भारतीय गौरव

(संशोधित तथा परिवर्द्धित)

लेखक

वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०

(मंगलाप्रसाद पारितोषिक तथा बंगाल हिन्दी-मंडल-
पुरस्कार-विजेता)

दो शब्द

भारतवर्ष की स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद जन-साधारण का ध्यान अपने अतीत की ओर स्वतः आकर्षित हो रहा है और सभी भारत के प्राचीन गौरव तथा संस्कृति के विषय में जानने के लिये उत्सुक हैं। हिन्दी में ऐसी पुस्तक की कमी रही है जो भारत के सांस्कृतिक विषयों पर प्रकाश डालती। इस पुस्तक के द्वारा इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि प्रत्येक विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है, तो भी उसकी गम्भीरता को ध्यान में रखकर संक्षेप में सभी अंगों का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

यदि संसार का प्राचीन इतिहास देखा जाय, तो सबको ज्ञात हो जायगा कि भारतवर्ष सभ्यता की चोटी पर पहुँच चुका था। जितने देश सभ्य कहे जाते थे, सभी ने इसी से कुछ सीखा। भारतीय ग्रंथों की बात तो दूर रही, मुसलमानों के हदीस तथा कुरान की टीका तक में इस देश को जन्नत (स्वर्ग) कहा गया है। उस प्रसंग में हजरत आदम की कथा कही जाती है जो स्वर्ग से निकाले जाने के पश्चात् जन्नत निशान यानी स्वर्ग तुल्य भारत में उतारे गये थे। इसका नाम हिन्दुस्तान लिखा मिलता है। मीर आजाद बिलग्रामी ने भारत के बारे में जो वर्णन दिया है, उसमें यह कहा गया है कि स्वर्ग से आदम पहले जन्नत निशान भारत में ही उतरे। यहीं पर उनको ईश्वरी आदेश मिला। इन सब बातों के जान लेने पर किसी को हिचक नहीं होगी कि सबसे प्राचीन तथा सभ्य देश भारत ही था। पाठकगण अगले अध्यायों में इन्हीं बातों का संक्षिप्त विवरण पायेंगे। पुस्तक में विवादपूर्ण बातों का समावेश नहीं किया गया है। इसके पढ़ने से भारत की महत्ता का परिचय मिल जायगा, यह भी समझ में आ जायगा कि पुराणों में भारत का जीवन सुरलोक से भी सुखकर क्यों कहा गया है।

गायन्ति देवा किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते
भवन्ति भूयाः पुरुषाः सुरत्वात् ।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में दो-चार शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा। भारतीय संस्कृति के विषयों पर कुछ लिखने से पूर्व प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था का वर्णन आवश्यकता समझकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के नाम से एक अध्याय जोड़ दिया गया है। संक्षिप्त रूप से मोहंजोदड़ो से लेकर बारहवीं सदी तक के युगों का कालक्रम के अनुसार वर्णन उपस्थित किया गया है। संस्कृति के प्रत्येक पहलू पर तद्विषयक सम्पूर्ण ज्ञान को सूक्ष्म रूप में रक्खा गया है और प्रधान बातों पर जोर दिया गया है। इस पुस्तक में उन विषयों के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर काल-विभाग के अनुसार विषयों का प्रतिपादन मिलेगा। यों तो सभी विषयों के वर्णन के लिये स्थान-स्थान पर सब प्रकार की सामग्री प्रयुक्त की गयी है तो भी अन्त में विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरण को पृथक् अध्याय के रूप में एकत्रित कर दिया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के किसी भी अंग को अछूता नहीं छोड़ा गया है। यदि जनता ने इसको अपनाया, तो भविष्य में "भारतीय संस्कृति का इतिहास" नामक ग्रंथ में सभी बातों का विशद वर्णन किया जायगा।

जय भारत, जय भारती

—लेखक

विषय-सूची

भारत का प्राकृतिक विवरण

संसार में मनुष्य तथा प्रकृति का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों के पारस्परिक क्रिया तथा प्रतिक्रिया का वृत्तांत ही मनुष्य का इतिहास है। मानव का इतिहास प्राकृतिक प्रभावों का अनुसरण करता है। भौगोलिक परिस्थिति मानव इतिहास की प्रेरिका शक्ति है। भारतीय इतिहास का भी प्राकृतिक या भौगोलिक परिस्थिति से गहरा सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति और ऐतिहासिक घटनाओं का परिवर्तन भौगोलिक कारणों से होता रहा। भारतीय गौरव की अमर कथा को पूर्णतया समझने के लिए इसके प्राकृतिक विवरण पर ध्यान देना परमावश्यक है। इसी भावना को लेकर ("सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां" की वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए) भारत की भौगोलिक परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ मराठा इतिहास को लीजिए। महाराष्ट्र की पहाड़ी परिस्थिति का प्रभाव उसके इतिवृत्त में सर्वत्र दृष्टिगोचर है। शिवाजी का चरित और उनकी शासन-शैली तो महाराष्ट्र की भौगोलिक बनावट पर ध्यान दिए बिना समझ ही में नहीं आ सकती। दक्षिण भारत में भारतीय संस्कृति का संरक्षण अधिक हो पाया क्योंकि वहां की भौगोलिक बनावट ही ऐसी है। भारतीय गौरव को बढ़ानेवाली कितनी वस्तुएं विन्ध्य मेखला से दक्षिण में ही पायी जाती हैं या मध्य-भारतीय जन-शून्य स्थानों में सुरक्षित हैं। भारत की ऊंची आध्यात्मिक संस्कृति को छोड़कर भौतिक सभ्यता का विकास और जीवन-संग्राम तो भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर है।

भारतवर्ष की स्थिति भूमण्डल में बड़े महत्त्व की है। इसी स्थिति के कारण संसार का सभ्य समाज भारतवर्ष से सदा परिचित

रहा। भारत स दूर देशों के लोग भारतीय विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने आते रहे तथा अनेक जातियां बाहरी आक्रमण से बचने के लिए भारत में शरण लेती रहीं। जीवन के आवश्यक पदार्थ इतनी अधिक मात्रा में यहां से अन्य देशों को जाते रहे कि भारतवर्ष कर्मभूमि कहलाता था। इन समस्त बातों का यथार्थ ज्ञान लाभ करने के लिए यहां के प्राकृतिक साधनों को जान लेना जरूरी है तथा भारत की स्थिति ठीक जानने के लिए संसार का मानचित्र सामने रखना आवश्यक है। अधिक स्थल-समूह भूमध्य-रेखा के उत्तर में स्थित है। भारत का अंतिम भाग इस रेखा से ५०० मील की दूरी पर है तथा कर्क रेखा भारत के बीचो-बीच जाती है (पश्चिम से पूर्व—मालवा से मध्य-प्रान्त, बिहार तथा मध्य बंगाल)। एशिया में भी भारत का स्थान मध्यवर्ती है। प्राचीन समय में प्रधान स्थल मार्गों का प्रारम्भ भारत से ही होता था, जिसका प्रमाण अन्य देशों के इतिहास में भी मिलता है। जलमार्गों में भी भारतवर्ष का स्थान केन्द्रवर्ती है।

भारत एक बिशाल देश है। यह हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप (उत्तर-दक्षिण) तथा काठियावाड़ से लेकर बंगाल (पश्चिम-पूर्व) तक विस्तृत है। यहां पर हर एक प्रकार की भूमि, जलवायु, पदार्थ तथा वृक्ष इत्यादि पाए जाते हैं। रचना के अनुसार इस देश को चार प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) हिमालय तथा अन्य पर्वत,
(२) उत्तर भारतीय मैदान,
(३) दक्खिन का पठार, तथा
(४) तंग तटीय मैदान।

हिमालय तथा अन्य पर्वत

एशिया में पामीर की गांठ से चारों तरफ पहाड़ निकलते हैं। दक्षिण-पूर्व में उस पर्वतश्रेणी से एक शाखा जाती है, जिसे हिमालय

कहते हैं। इसका आकार तलवार के समान है। यह विशाल पर्वत सदा हिम (बर्फ) से आच्छादित रहता है। यह संसार के पहाड़ों से कहीं अधिक ऊंचा है। वास्तव में यहां कई पर्वत-श्रेणियां हैं। इनके बीच में दुर्गम हिमागार और डरावनी घाटियां हैं। भारतवर्ष के उत्तर हिमालय पर्वत ने इस देश को मध्य एशिया से अलग कर दिया है। पश्चिम से पूरब (सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक) इसकी लम्बाई १६०० मील है। गंगा के मैदान से तिब्बत के पठार तक हिमालय की चौड़ाई २०० मील है। मुख्य रूप से हिमालय शब्द का प्रयोग सब से ऊंचे पहाड़ों की शृङ्खला के लिए किया गया है। किन्तु उस शृङ्खला के नीचे जो छोटे पहाड़ों की परम्पराएं फैली हैं उन्हें हिमालय की निचली सीढ़ियां कहते हैं। वे भी इसी के परिवार में सम्मिलित हैं। चौड़ाई में फैले हुए पहाड़ नीचे से ऊपर तीन भागों में बांटे गए हैं।

तीन श्रेणियाँ

(अ) बाहरी शृङ्खला, (ब) भीतरी शृङ्खला, (स) गर्भ शृङ्खला अथवा उपत्यका। हरिद्वार से देहरादून तक पहाड़ियां, शिवालिक (व्यास व राप्ती तक) और नेपाल तराई की चूड़ियां सब बाहरी शृङ्खला के भाग हैं। इस श्रेणी पर कहीं कहीं हाथी तथा दूसरे स्तनधारी जानवरों के पुराने ढांचे मिले हैं। सम्भवतः यह कभी मैदान का भाग था। यह श्रेणी बालू तथा कंकड़ की बनी है। भीतरी शृङ्खला के पहाड़ गर्भ से अलग हो कर इधर उधर मुड़ जाते हैं और कहीं समानान्तर हो जाते हैं। यह पचास मील चौड़ी है तथा ६००० से १२,००० फुट तक ऊंची है। शिवालिक तथा भीतरी शृङ्खला के बीच में खुले हुए मैदान हैं जिनको पश्चिम में दून कहते हैं तथा पूर्व में द्वार कहते हैं। इसी के बीच में काश्मीर, कांगड़ा, शिमला, गढ़वाल, कुमायूं, नेपाल आदि हिमालय की प्रसिद्ध और मुख्य बस्तियां हैं। भारत के गर्मी के स्थान—मंसूरी, नैनीताल, शिमला, दार्जिलिंग आदि शहर—इसी पहाड़ पर स्थित हैं। इस भीतरी शृङ्खला के सिर

पर गर्भ श्रृङ्खला के पहाड़ दीखते हैं। यह सिन्ध के दक्षिणी मोड़ के अन्दर से प्रारम्भ होती है। यहां हिमरेखा सदा जमी रहती है। इस श्रेणी की औसत ऊंचाई २०,००० फुट है। अधिक चोटियां पांच मील से भी ज्यादा ऊंची हैं। इस श्रृङ्खला में नंगा पर्वत, केदारनाथ, बद्रीनाथ, नन्दा देवी, धौलागिरि, गौरीशंकर तथा कांचन-जंघा आदि पहाड़ हैं। इन पर्वतों पर चढ़ने के लिए संसार के विभिन्न देशों से साहसी व्यक्तियों का दल आया, भारत से भी एक गिरोह गया परन्तु अभी तक कोई भी गौरीशंकर की चोटी तक पहुंच न सका। यह श्रेणी मैदान से १०० मील की दूरी पर है। यह पहाड़ बीच में टूटा हुआ है, जिससे कई नदियों की घाटी के रास्ते बने हैं। भारतवर्ष की मुख्य नदियों में से चिनाब, यमुना आदि हिमालय की गर्भ-श्रृङ्खला से निकलती हैं। सतलज, गंगा, घाघरा और कोसी आदि नदियां ऊपर से इस श्रेणी को काट कर उतरती हैं। यद्यपि इस पहाड़ पर बस्तियाँ नहीं हैं, पर उन नदियों की घाटी आरपार तक आबाद है। हिमालय के पूर्वी भाग में यह श्रेणियाँ बहुत ही पास पास हैं, इसलिए उनके बीच में तंग घाटियाँ हैं। परन्तु पश्चिमी भाग में (काश्मीर में) ये श्रृङ्खलाएं कुछ दूर दूर हो गयी हैं। इनमें चौड़ी घाटियाँ, सुन्दर झीलें और हिमागार बन गए हैं। यही कारण है कि काश्मीर प्रदेश अपनी सुन्दरता के लिए जगत् प्रसिद्ध है। काश्मीर में ये श्रृङ्खलाएं पीर पंजाल, जास्कर तथा कराकोरम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी कराकोरम श्रेणी के दक्षिण-पश्चिम में कैलाश श्रृङ्खला है जो सुप्रसिद्ध कैलाश पर्वत के नाम से विख्यात है जहां पर संसार के सब से भारी ग्लेशियर रहते हैं।

उत्तरी पूर्वी शाखाएँ

हिमालय की बड़ी श्रृङ्खला भारत के पूर्वी छोर तक बढ़ गई है। भारतवासी लौहित्य को पूर्वी सीमा मानते हैं। आसाम (प्राचीन कामरूप) से हिमालय के पूर्वी बढ़ाव ने अपनी एक बांह—पतकोई और नागा—दक्षिण पश्चिम तक फैला दी है। वहाँ से लुशाई और चटगांव (बंगाल) की पहाड़ियों

ने समुद्र तक पैर फैलाया है। नागा की एक शाखा—गारो, खंसिया और जयन्तिया पहाड़—ने अपनी बाँह भारतीय मैदान में फैला दी है और आसाम में ब्रह्मपुत्र और सुरमा की घाटियों को अलग करती है।

उत्तरी पश्चिमी शाखाएँ

हिमालय से पश्चिम में पामीर की दक्खिनी सीमा, हिन्दूकुश पर्वत है। यह हेरात (अफगानिस्तान) तक—कोहेबाबा और बन्देबाबा पर्वतों तक—एक ही शृंखला है। पंजाब के पश्चिम में सुलेमान पहाड़ उत्तर से दक्षिण को चला गया है और सुलेमान की चोटी ११,३०० फुट ऊंची है। सुलेमान के दक्षिण तथा सिन्ध प्रान्त के पश्चिम में किरथर या हाला पर्वत है, जिसकी शाखाएं समुद्र तक चली गयी हैं। अफगानिस्तान की पूरब तरफ काबुल नदी हिन्दूकुश के सब धाराओं—कुनार, पंजकोटा और स्वात—को सिन्ध में ले जाती है। इस प्रकार भारतवर्ष हिमालय और उसकी पूर्वी व पश्चिमी शाखाओं से घिरा है।

मार्ग

हिमालय की श्रेणियों को पार करना कठिन काम है। पहाड़ी प्रदेश के मार्ग अत्यन्त दुर्गम होते हैं। सड़कों के स्थान पर केवल पगडंडियां होती है। जो मार्ग पहाड़ की रीढ़ पर से होकर जाता है उसके भिन्न भिन्न नाम विभिन्न स्थानों में पाए जाते हैं। उसको अफगानिस्तान में कोतल, कांगड़ा में जोत, कमायूं में घाटी और तिब्बत में ला कहते हैं। महाराष्ट्र में भी उस गर्दन के रास्ते को घाट कहते हैं। परन्तु पर्वतों के अन्दर(आरपार) होकर जाने वाले मार्ग को दर्रा कहते हैं। हिमालय में यात्री को बरफ काटकर मार्ग बनाना पड़ता है तथा नदियों की गहरी घाटियों को पार करने के लिए रस्से का पुल (लक्ष्मण झूला लोहे का पुल है) बनाना पड़ता है। यह सब को विदित है कि सीमांत के रास्तों का देश के इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिमालय में पूरब, उत्तर, उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी भागों में दर्रे हैं। आसाम तथा बंगाल से जाने वाले मार्ग को पूरब का दर्रा कहते हैं। इनमें चिन्डविन घाटी तथा मणिपुर के मार्ग

से भारत तथा चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध था। आसाम के इतिहास में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ईसा के पूर्व २०० वर्ष से चीन तथा भारत में आना जाना इस मार्ग से होता रहा। चुम्बीघाटी से हो कर तिब्बत में सदा लोग जाते रहे तथा व्यापार भी होता रहा। मंगोलिया से मंगोल जाति ने भी इस मार्ग से भारत पर आक्रमण किया था। इससे बर्मा के निवासियों में मंगोल की प्रधानता ज्ञात होती है। मध्यकाल में भी तिब्बत के पठार से चीन व तिब्बती जातियों की बाढ़ उतरी। उनमें शान मुख्य थे। बर्मा मे शान रियासत का नाम उसी से पड़ा। चीन जाति इन्हीं सीमांत के रास्तों द्वारा सुरमाघाटी से हिमालय के उत्तरी छोर तक पहुंचती रही और उत्तरी भाग में तिब्बत से सदा सम्बन्ध रहा। श्रीनगर (काश्मीर) से लेह (लदाख) और कराकोरम दर्रे से होकर पश्चिमी मध्य एशिया में जाते हैं जो भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध मार्ग था। इस मार्ग से हो कर भारत से मध्य एशिया का व्यापार होता था। धर्मप्रचारकों ने भी इस मार्ग का अवलम्बन लिया था। मध्य एशिया के खोतान नगर तक जाने के लिए यह सुगम मार्ग था। चीनी यात्रियों के लिए यह प्रसिद्ध रास्ता था। फाहियान तथा ह्वेनसांग इसी मार्ग से भारत आये थे। पश्चिमी तिब्बत से भी इसी द्वारा भारत का सम्बन्ध बना रहा। यही कारण है कि लदाख के भाग को छोटा तिब्बत कहा जाता था। शिमला से आगे सतलज की कन्दरा से ऊपर दर्रा है। बुद्धधर्म का संदेश भी इन्हीं दर्रों से होकर तिब्बत को गया। भारत के उत्तरी पश्चिमी दर्रों का बड़ा महत्त्व है। सीमांत प्रदेश से होकर खैबर का मार्ग है। इसी दर्रा से भारतवर्ष में आर्य लोग आए (यदि उनका आदि स्थान मध्य एशिया माना जाय)। सिकन्दर महान् तथा उससे पूर्व जरजेस भी इसी मार्ग से सेना लेकर भारत के भीतर पंजाब में आए थे। अशोक ने इसी मार्ग से अपने दूत को यूनान और मिस्र भेजा था। इस सिलसिले में भारत की प्राचीन सीमा नीति के सम्बन्ध में

कुछ कहना युक्तिसंगत मालूम पड़ता है। भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य स्थापित कर अपनी सीमा नीति को स्थिर कर दी थी। सेल्युकस से सन्धि कर भारतीय सीमा पर स्थित भूभाग को भी उसने ले लिया ताकि दर्रा के बाहरी भाग पर भी शासक का अधिकार रहे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सीमा पार करने के लिए पासपोर्ट की भी चर्चा की है। अशोक ने उस नीति का पालन किया, अतएव उसने तक्षशिला को प्रांत का केन्द्र स्थिर किया और राजकुमार उस प्रांत के गवर्नर पद को सुशोभित करते रहे। अशोक स्वयं वहां पर गवर्नर का काम कर चुका था। मौर्यों के बाद कनिष्क ने सीमा के महत्त्व को समझ कर पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनायी। खोतान से काशी तक राज्य विस्तृत होने पर भी उसी सीमा पर स्वयं रहना उचित समझा। उस समय (पहली सदी) के बाद भारतीय नरेशों ने सीमा नीति पर ध्यान न दिया। गुप्तों का राज्य सारे उत्तरी भारत में फैला था परन्तु सीमा पर उनका ध्यान न था। यही कारण है कि हूण लोग उस मार्ग से भारत में घुस गये जो गुप्त साम्राज्य के पतन का एक कारण हो गये। पूर्व मध्य काल में गुर्जर प्रतिहार के बाद किसी राजा ने विदेशी आगमन परदृष्टि न डाली। अरब वाले सिन्ध के मार्ग से भारत में प्रवेश कर गये पर विशेषकर उनका आना समुद्र से हुआ। ११वीं सदी में उत्तर पश्चिमी प्रांतमें ब्राह्मण साही राजा शासन करते रहे जो सीमा के महत्त्व को पूर्ण रीति से समझे रहे। सुबुक्तगीन के विरोध में जयपाल ने भारतीय राजाओं को निमंत्रित किया था पर सम्मिलित होने पर भी राष्ट्रीय भावना के अभाव में कुछ हो न सका। सीमा पर अधिकार रखने के महत्त्व को बिना समझे सीमित क्षेत्र में कार्य करते रहे। अन्त में वही हुआ। इसलामी सेनाओं ने इसी पहाड़ी मार्ग से होकर भारत में प्रवेश किया। अतएव इस मार्ग की प्रधानता सदा से रही है। ब्रिटिश काल में भी इस मार्ग की रखवाली की जाती थी। लांडीखाना में किला तथा फौज का समारोह था। काबुल में दक्षिण

कुर्रम और नटोची के दर्रे है। ये व्यापार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। गोमल का रास्ता भी हिमालय के उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ों में स्थित हैं। अब तो खैबर से भी गोमल की महत्ता बढ़ गयी है। यह गजनी (अफगानिस्तान) के सामने है। इसके मुंह पर डेरा इस्माइल खां शहर है। इसके नीचे बोलन का दर्रा है। क्वेटा शहर से इसकी फौजी नाकाबन्दी की गयी है। इसके द्वारा पठान जाति का मूल घर—झोवघाटी—अफगानिस्तान के पठानों से कट गया है। बोलन से क्वेटा और खोजक जोत होकर कन्दहार और वहां से हेरात (अफगानिस्तान) का रास्ता है। ब्रिटिश रेलपथ वहां से सीधा ईरान के पश्चिमी सीमा तक पहुंच गया है।

हिमालय का पानी

हिमालय में प्रधान श्रेणी पर हिमरेखा सदा रहती है, अतएव उसी गर्भ-शृङ्खला या उससे उत्तरी भाग से ही नदियां निकलती हैं। इसकी प्रधान शृङ्खला के उत्तरी ढाल से सिन्ध और उसीके पास से ही सतलज, घाघरा और ब्रह्मपुत्र निकलती हैं। मानसरोवर झील की स्थिति भी उसी स्थान पर है। सिन्ध और सतलज की तरह चिनाब तथा व्यास भी समीप में है। गंगा नदी मध्यवर्ती श्रेणी के गंगोत्री से निकलती है। यमुना की मुख्य धारा जमनोतरी से प्रारम्भ होती है। इसके तथा सतलज की पूर्वी धारा के बीच में बंदरपूछ पर्वत है जिसके पूर्व गढ़वाल प्रदेश में गंगा की सब धाराएं (अलकनन्दा, भागीरथी आदि) हैं। भागीरथी का श्रोत हिमालय की गर्भ-शृङ्खला में तथा जाह्नवी पीठ पीछे है। अलकनन्दा की दो धाराएं, धौली गंगा तथा विष्णु गंगा, जोशी मठ पर मिली हैं। वह घाटी हिमालय के ठीक गर्भ में है, जहां बदरिकाश्रम की घाटी है। रामगंगा और कोसी गंगा के पूर्वी भाग के नीचे से निकलती हैं। अलमोड़ा की बस्ती कोसी की घाटी के ऊपर स्थित है। सरयू नाम की एक नदी काल्पी से मिली है। जस्कर शृङ्खला में घाघरा का श्रोत गंगा के ऊपर है। दो सौ मील तक घाघरा का क्षेत्र है जिसकी धाराओं में से धौलीगंगा और गौरीगंगा

तथा स्वयं काल्पी भी हैं। घाघरा की घाटी होकर कैलाश मानसरोवर की यात्रा की जाती है। धौलागिरि तक नैपाल राज्य का पश्चिमी भाग है और धौलागिरि से नीचे राप्ती का श्रोत है। यहीं से गोसाईं थान तक गण्डक की धाराएं फैली हैं। नैपाल के उत्तर पूर्वी छोर पर कांचनजंघा है और उसके पूरब हिमालय का पानी गंगा के बजाय ब्रह्मपुत्र में जाता है। ब्रह्मपुत्र में अनेक धाराएं हैं जिसमें मनास प्रधान है और जो हिमालय के गर्भ-शृङ्खला से निकली हैं। इस घाटी से होकर तिब्बत को रास्ता गया है। इस प्रकार हिमालय भारतवर्ष की मुख्य नदियों का श्रोत है।

पैदावार और धन-सम्पत्ति

हिमालय के हिमागार में तो कोई वनस्पति नहीं होती परन्तु नीचे उतर कर हिमालय पर कोणधारी वृक्षों के जंगल मिलते हैं जिनमें चीड़ और देवदार के पेड़ अधिकता से पाए जाते हैं। बाहरी शृङ्खला पर टीक तथा साल के वृक्ष उगते हैं। यहां पर भाभड़ या सवई नामक घास पैदा होती है जो कागज बनाने के काम आती है। इनके अतिरिक्त शिवालिक की घाटियों में नैपाल व आसाम तक धान पैदा किया जाता है। काश्मीर तथा कुमायूं के भागों में सेव, अंगूर, अनार, अखरोट, बादाम व खुमानी आदि फल भी पैदा होते हैं। दवा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की जड़ी-बूटी भी हिमालय में पैदा होती है। यही कारण है कि संसार में गंगा का पानी सब से अधिक वैज्ञानिक बतलाया गया है। इनके अलावा खनिज पदार्थ भी हिमालय में अधिकता से पाए जाते हैं। भारत में सोना सिन्ध नदी के रेत में छोटे छोटे कणों के रूप में मिलता है। नैपाल तथा काश्मीर की घाटियों में पीट और कांगड़ा (हिमालय) में स्लेट बहुतायत से पैदा होता है। सिकम तथा गढ़वाल में ताम्बा पाया जाता है। उत्तर भारत में हिमालय से नमक और लद्दाख से सुहागा व गंधक निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त पश्चिम तथा पूर्वी शाखाओं, आसाम आदि, में कोयला तथा तेल की खानें हैं। हिमालय से जिन नदियों

में जल का प्रपात है (जैसे व्यास) उनसे सफेद कोयला (जल-शक्ति) पैदा किया जाता है । इस प्रकार हिमालय वनस्पति तथा खनिज पदार्थों का भी घर दिखाई पड़ता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिमालय से भारतवर्ष को अनेक लाभ हैं । मानसून हवा को रोक कर पानी बरसाना तथा उत्तरी ठंढी हवा को न आने देने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी हिमालय ही करता है। बाहरी शत्रुओं के आक्रमण को भी वह यथासम्भव रोकता है। वनस्पति का घर और नदियों का उद्गम-स्थान हिमालय है जिसके कारण भारत सुहावना तथा हरा-भरा दिखलाई पड़ता है । इसमें भारतवासियों के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थान भरे पड़े हैं ।

भावर

हिमालय से दक्षिण तथा उत्तरी मैदान के बीच भूभाग को भावर कहते है। वहां पर हिमालय श्रेणियां आरम्भ होती हैं। वहीं पर असंख्य धाराएं ककड़ पत्थर का ढेर एकत्रित कर देती हैं। इस तरह का पथरीला ढाल एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। छोटी छोटी नदियों का पानी इस कंकड़ के अन्दर छिप जाता है । पानी से इस भाग मे बड़े बड़े पेड़ पैदा हो आते है परन्तु खेती और आबादी के लिए यह स्थान अनुपयुक्त है। भावर की पृथ्वी मैदान में मिल जाती है । यहां पर भीतर का पानी ऊपर की ओर उठ जाता है और वह स्थान दलदली हो जाता है। ऊंची घास तथा पेड़ घने हो जाते हैं । इस भाग को तराई कहते हैं जिसमें पीलीभीति, बहराइच, बस्ती, गोरखपुर और चम्पारण के जिले सम्मिलित हैं । यहां पर आजकल धान तथा गन्ना की फसल अच्छी होती है। भारतवर्ष में गन्ना से शक्कर अधिकतर इसी भाग में तैयार किया जाता है । तराई के जिले स्वास्थ्य के लिये सुखद नहीं होते ।

उत्तरी मैदान

उत्तर भारतवर्ष एक विस्तृत समतल मैदान है। इसी मैदान के पश्चिमी भाग (पंजाब, संयुक्त प्रांत) का नाम प्राचीन समय में आर्यावर्त या ब्रह्मावर्त था। आर्य लोगों ने सर्वप्रथम यहीं निवास करके वेदों की रचना की। इसी मैदान में भारतीय प्राचीन भग्नावशेष मिले हैं जिन पर इतिहास का निर्माण होता है। खुदाई के कारण उन खण्डहरों का पता चला है जहां प्राचीन समय में आर्य लोग निवास करते थे। सभ्यता का उदय पहले पहल गंगा-सिन्ध की घाटी में ही हुआ। "प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने" का उल्लेख इसी भाग के लिए किया गया है। अनेक ऐतिहासिक प्रसिद्ध स्थान मोहंजोदारो तथा हरप्पा, मथुरा, सारनाथ, पाटलिपुत्र और नालंदा—इसी भाग में स्थित हैं। इस विशाल मैदान को नदियों के दो जल सींचते हैं—सिन्ध तथा गंगा। यही कारण है कि उत्तर भारतीय क्षेत्र को सिंध-गंगा का मैदान कहते हैं। दोनों पानियों का निकास प्रायः एक ही स्थान से है। परन्तु मैदान में आकर दोनों नदियां अलग अलग हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि दिल्ली के समीप की भूमि २,००० फुट ऊंची है और जल-विभाजक का काम करती है। यह भाग सूखा है। यही पुराने समय का कुरुक्षेत्र है जहां पर महाभारत संग्राम हुआ था। उस भूमि का इतना फैलाव है कि मध्यकाल में भी युद्ध इसी भूमि पर हुए। इसे आजकल पानीपत का मैदान कहते हैं। बाबर, अकबर तथा बालाजी बाजीराव ने इसी स्थान पर युद्ध किया। यह मैदान हिमालय से लाई हुई मिट्टी से बना है जो सिन्ध से आसाम तक विस्तृत है। इसके दक्षिणी भाग में विन्ध्या की पहाड़-श्रेणियाँ स्थित हैं। जिनसे तीन मार्ग दक्षिण की ओर जाते हैं। इन्हीं तीनों मार्गों से होकर उत्तर से दक्षिण भारत पर आक्रमण होते रहे। इन्हीं स्थानों पर सैनिक संरक्षण के लिए किले बनवाए गए थे। दिल्ली का किला, फतेहपुर

सिकरी, चुनार तथा इलाहाबाद के किले जीवित उदाहरण हैं। आजकल भी रेल का मार्ग दक्षिण भारत के लिए इन्हीं रास्तों से होकर निकाला गया है ।

मैदान नदियों की लाई हुई मिट्टी से बना है जिसकी गहराई प्राय: एक हजार फुट है । मैदान की चौड़ाई १०० मील से अधिक हैं। इस विशाल मैदान में कंकड़ को छोड़ कर पत्थर का नाम नही हैं पर मिट्टी मुलायम है।ऊंचे भाग को बांगर कहते हैं तथा नीचे भाग को खादर या कछार पुकारते हैं। गंगा सिन्ध का डेल्टा खादर का ही अंग है। जैसा कहा गया है कि जल-विभाजक से सिन्ध तथा गंगा का ढाल पृथक हो गया । गिलगिट के पास सिन्ध दक्षिण-पश्चिम को मुड़ जाता है । पंजाब का बड़ा भाग नदियों द्वारा बना कछारी मैदान या दोआबा है । काबुल और स्वात नदियों के द्वारा हिन्दूकुश का पानी भी अटक के पास सिन्ध नद में आता है तथा झेलम, चिनाब, रावी, व्यास और सतलज से पूरा प्रांत सींचा जाता है। नदियों के पास खादर की जमीन अच्छी नहीं है, पर बाँगर की जमीन उपजाऊ है । अत: दोआबा की उपजाऊ जमीन में नहरें निकाली गयी हैं। यहां के अधिकतर लोग खेती करते हैं, डील-डौल में लम्बे तथा मजबूत होते हैं । फौज में अधिक संख्या में ये लोग भरती किए जाते हैं ।

पूर्वीभाग में मुख्य नदी गंगा है। इसकी लम्बाई १५५० मील है। आरम्भ में यह भागीरथी कहलाती है । टेहरी से नीचे अलकनन्दा मिलती है । हरिद्वार से गंगा नामकरण होता है। यहीं से यह मैदान में प्रवेश करती है। इसका मार्ग पूरब की ओर होता है, लेकिन राजमहल की पहाड़ियों से यह दक्षिण की ओर मुड़ती है। ग्वालंदो (बंगाल) के पास ब्रह्मपुत्र इसकी एक शाखा पद्मा में मिलता है। इसके पश्चात् गंगा की अनेक धाराएँ हो जाती हैं जो सुन्दरबन का डेल्टा बनाती हैं । इसकी मुख्य धाराओं में मेघना, पद्मा तथा

हुगली हैं। गंगा नदी मैदान में बहती हुई अपनी शाखाएँ भी साथ लेती चली आती है। दाहिने किनारे की मुख्य सहायक नदियों में यमुना तथा सोन हैं। रामगंगा तथा गोमती बायीं ओर से गंगा में मिलती हैं। घाघरा नदी भी सतलज, सिन्ध तथा ब्रह्मपुत्र की तरह हिमालय के उसी स्थान से निकलती है। घाघरा में नेपाल के बाहर सारदा तथा राप्ती बाईं ओर से मिलती है। गंडक भी एक सहायक नदी है। नागपुर के पठार से दामोदर भी हुगली में मिल जाती है। भारत में गंगा नदी सबसे पवित्र मानी जाती है। प्रायः उत्तरी भारत के सभी तीर्थ इसकी घाटी में स्थित हैं। जैसे ही मैदान में पहुंचती है वहां हरिद्वार नामक नगर है। प्रयाग तथा काशी गंगा के किनारे स्थित है। अयोध्या घाघरा तथा मथुरा यमुना के किनारे बसाये गए हैं। इसी घाटी में बौद्धों के तीन तीर्थ—रूम्मनदेई, सारनाथ और कुशी नगर—हैं। प्राचीन काल की (यानी १२०० ई० तक) प्रसिद्ध नगरी पाटलिपुत्र (पटना) तथा कान्य-कुब्ज (कन्नौज) इसी की घाटी में रही जो ईसा पूर्व सदियों से १२०० ई० तक क्रमशः भारत की राजधानी बनी रही। अतः इस भाग की महत्ता अधिक है। गंगा की सबसे बड़ा सहायक नद ब्रह्मपुत्र है। यह १८०० मील लम्बा है। यह मानसरोवर के पूर्व में कैलाश से निकलता है। यह नद पर्वत में दिहांग कहलाता है। यह आसाम में ४५० मील तक ठीक पश्चिम की ओर बहता है और ग्वालंदो के पास गंगा की शाखा में मिल जाता है। इस प्रकार इस मैदान में नदियों का जाल बिछा है।

पैदावार

उत्तरी मैदान पैदावार के लिए संसार-प्रसिद्ध है। पंजाब में सुन्दर गेहूं और बिहार, बंगालमें धान और जूट पैदा होते हैं। यही कारण है कि बंगाल में जूट के मिल अधिकता से पाए जाते हैं। संसार में जूट का सबसे ज्यादा भाग पूर्वी बंगाल में ही पैदा होता है। दामोदर नदी की घाटी में कोयला तथा लोहा की बहुत बड़ी खान है। खेती की सुगमता तथा खनिज पैदावार की अधिकता

से यह भूमि स्वर्ग की तरह सुख देनेवाली है । यही कारण है कि भारतवर्ष पर सदा से शत्रुओं का आक्रमण होता रहा । इसी स्वर्ग भूमि में देवता भी रहना चाहते थे । ईसवी पूर्व में ही सिकन्दर ने इसे अपनाने का प्रयत्न किया । इस्लाम धर्म के माननेवालों ने बाहर से आकर इसे जीत कर भोग किया और बाद में विदेशी इस पर शासन करते आ रहे थे । संसार में इस मैदान की आवादी अधिक समझी जाती है । ५०० से ८०० तक जनसंख्या प्रति वर्गमील में निवास करती है । चीन ही एक ऐसा देश है जो इतना घना आबाद है ।

मार्ग

इस मैदान में आने जाने के अनेक साधन है । रेल के अतिरिक्त नदियां भी इस कार्य में सहायता पहुंचाती हैं । इन दो नदों (गंगा तथा ब्रह्मपुत्र) से आने जाने तथा व्यापार के लिए बहुत सहायता मिलती है । इनमें दूर तक स्टीमर चलते हैं जो व्यापार का सामान ले जाते हैं । दसवीं सदी में पाल वंशी नरेश गंगा में जहाजी बेड़ा भी रखते थे जिसे युद्ध में प्रयोग किया जाता था । मध्यकालीन पाल लेख में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

अंग्रेजी राज्य में भी १८ वीं सदी में गंगा नदी द्वारा कलकत्ते से पटने तक सामान भरी नावें आती थीं । वर्तमान काल में भी इन नदियों का प्रयोग आवागमन के लिए किया जाता है । इस मैदान में राज-पथ पश्चिम पूरब की दिशा में चलता है । प्राचीन समय में भी यहाँ सुरक्षित व्यापार होता था । पेशावर से कलकत्ते तक राजमार्ग को शेरशाह ने मरम्मत करा कर प्रशस्त किया था । इन्हीं रास्तों से होकर भारतीय सामग्री खैबर को पार कर अफगानिस्तान, ईरान और टर्की होते योरप में बिकने जाती थी । यदि इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन किया जाय तो इसकी विशेषता ज्ञात हो जायगी । यही नहीं, इस से बन्दरगाहों—भरौंच (काठियावाड़) तथा ताम्रलिप्ती (बंगाल) तक—व्यापार की सामग्री भेजी जाती थी । वहां से जहाजों

पर लद कर वह बिकने के लिये विदेश में जाती थी । आजकल भी इस मैदान की विशेषता के कारण ही योरप से वायुमार्ग उत्तरी मैदान होकर पूर्व (चीन, जापान व आस्ट्रेलिया) को जाता है । करांची, दिल्ली, बमरौली, दमदम (बंगाल) का वायुमार्ग प्रधान और महत्त्वपूर्ण हो गया है ।

दक्षिणी पठार

उत्तर भारतीय मैदान से भारत के तिकोने दक्षिणी भाग को दक्खिन का पठार कहा जाता है । विन्ध्य मेखला इन दोनों को अलग करती है । ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से (ई० पू० ६०० वर्ष) दक्षिण भारत में उत्तर से लोग आते जाते रहे । सम्राट् अशोक ने अपने धर्म का प्रचार लंका तक किया । गुप्त नरेशों में महाराजाधिराज समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत का दिग्विजय किया था। लंका से उसके दरबार में लोग आते रहे । प्राचीन भारत में उत्तर तथा दक्षिण भारत में आना जाना पर्याप्त मात्रा में होता था । मध्यकाल में भी सबसे प्रथम अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण पर आक्रमण किया था। मुहमद तुगलक ने भी देवगिरि को अपनी राजधानी बनायी। मुगलों के समय में तो अकबर से औरंगजेब तक वहां लड़ाइयां होती रहीं। जैसा कहा गया है यह त्रिभुज पहाड़ी पठार है जिसका आधार विन्ध्याचल तथा दो भुजाएं पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं । पश्चिमी घाट का पुराना नाम सह्याद्रि था । पश्चिमी घाट पूर्वी घाट से ऊंचा है । इसलिए पठार की ढाल पूरब को है। इस पहाड़ी ढाल में खुले मैदान को महाराष्ट्र लोग 'देश' कहते हैं। सह्याद्रि के पश्चिम तरफ के किनारे को कोकण कहते हैं। इन दोनों भाग के निवासी ब्राह्मण देशस्थ तथा कोकणस्थ कहे जाते हैं । सह्याद्रि में तीन रास्ते हैं । पहला थाल घाट जिससे होकर दिल्ली से बम्बई को गाड़ी आती है । दूसरा भोर घाट जिसके द्वारा बम्बई से मद्रास की ओर जी० आई० पी० रेलवे जाती है ।

तीसरा पाल जिसमें होकर मद्रास से कालीकट को रेल गयी है। सह्याद्रि के घाटों से तथा मराठा इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तंग मार्गों से किसी प्रकार की गाड़ी या छकड़े नहीं जा सकते। क्षत्रपति शिवाजी ने 'कोकण' से 'देश' जाने वाले मार्गों पर अपना अधिकार कर लिया था तथा किलेबंदी कर दी थी। सीधे खड़े होने के कारण ये किले बिल्कुल सुरक्षित थे। पूरब से शत्रुओं के घोड़े तथा सैनिक इन कठिन मार्गों पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। युद्ध में मराठा फौज उन पर छापे मारती रही। उन्होंने गोरिला युद्ध के तरीके को अपनाया। यही कारण था कि शिवाजी विजयी रहे। उस रास्ते को छोड़ देने से ही मराठे नष्ट हो गए।

पूरे पठार को देखने से ज्ञात होता है कि विन्ध्या का सिलसिला महादेव अमरकंटक पर्वतों से होते राजमहल की पहाड़ियों (बिहार) तक चला गया है। विन्ध्या के उत्तर में मालवा का सूखा पठार है। दक्षिण पठार में नदियों की घाटियों तथा डेल्टा के सिवाय समस्त भूमि कठोर चट्टान (hard rocks) की बनी है। उत्तर-पश्चिमी भाग में काली मिट्टी (बरार प्रान्त) दिखलाई पड़ती है जिसमें रूई बहुतायत से पैदा होती है। विन्ध्या के उत्तर तथा दक्षिण भाग को सम्मिलित करने से पठार का विवरण पूरा हो सकता है। सह्याद्रि की ढाल पूरब को होने से नदियां दक्षिण-पूरब को बहती हैं और पूर्वी घाट को काट कर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। गोदावरी नासिक के पास पश्चिमी घाट से निकलती है। बाएं किनारे पर वेन गंगा तथा वर्धा नामक नदियां इसमें मिलती हैं। कृष्णा भी महाबालेश्वर के पास निलकती है। भीमा और तुंगभद्रा भी अपना पानी इसमें गिराती हैं। इसी प्रकार कावेरी तथा वैगई आदि नदियां बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। पठार के उत्तरी भाग में नर्मदा अमरकंटक पहाड़ से निकलती है, और मध्य प्रांत में बहती हुई, विन्ध्या तथा सतपुड़ा के बीच से होकर अरब सागर में गिरती है। इसकी घाटी में जबलपुर के पास संगमरमर का

पहाड़ और जलप्रपात देखने योग्य है। इसके किनारे अनेक तीर्थस्थान हैं। गंगा की तरह यह नदी भी पवित्र मानी जाती है। सतपुड़ा के दक्षिणी भाग में होकर ताप्ती नदी खम्भा की खाड़ी में गिरती है। अमरकंटक की ढाल चारों तरफ को है। इसलिए उत्तर में सोन, पश्चिम में नर्मदा, दक्षिण में वर्धा तथा पूरब में महानदी निकलती हैं। वर्धा नदी के किनारे इसी नाम का शहर है। वर्धा का नाम महात्मा गांधी के आश्रम के कारण संसार प्रसिद्ध है। इतनी नदियों के होते हुए भी पठार में हरियाली दृष्टिगोचर नहीं होती।

नदियों की घाटियों में थोड़ा धान तथा 'देश' में मकई, ज्वार, बाजरा आदि कुधान्य पैदा होता है। मूंगफली की भी खेती होती है। खानदेश तथा बरार में कपास अधिक पैदा होता है। पूरबी तथा पश्चिमी घाट के मिलाप को नीलगिरि पर्वत कहा जाता है। वहाँ कहवा तथा चाय पैदा होती है। खानों की उपज में तो दक्षिणी पठार अत्यन्त धनी है। प्राचीन काल से ही गोलकुण्डा के हीरे की खानें प्रसिद्ध हैं। कोल्हार की खान से भी सोना निकाला जाता है। संसार का पाँच फी सदी सोना यहां निकलता है। मैसूर राज्य के बाबा बूदन पहाड़ी से लोहा निकाला जाता है। हैदराबाद राज्य से काफी कोयला खोदा जाता है। सफेद कोयले (विद्युत शक्ति) की सम्पत्ति भी कम नहीं है। बम्बई तथा पूना के बीच की ढाल पर झील तैयार कर के ताता की जल विद्युत योजना चलती है जिससे तमाम कारखानों, रेलवे तथा शहरों में रोशनी और ताकत (शक्ति) दी जाती है। मद्रास में पायकारा तथा मैसूर में कावेरी योजना भी विद्युत शक्ति पैदा करती है। इस प्रकार भारतवर्ष की व्यावसायिक उन्नति में दक्षिण पठार की शक्ति तथा खनिज सम्पत्ति विशेष सहायक है।

प्राचीन काल में पठार के उत्तर-पश्चिम में व्यापार के प्रधान

मार्ग थे । ये नर्मदा की घाटी से होकर चलते थे ।पुराने समय में भरोंच से पाटलिपुत्र तक बड़ा व्यापार चलता जिस मार्ग में उज्जयिनी केन्द्र थी । पेरिप्लस ने इस रास्ते की प्रशंसा की है। 'किताबुल मसालिक' नामक पुस्तक में अरब तथा भारत के व्यापार-सम्बन्धी वर्णन में इस मार्ग का उल्लेख है। दक्षिण भारत के अन्दर सेना, व्यापार तथा सभ्यता का प्रवाह नदियों के दिशा में होते रहे। मनमाड़ से पूर्वी किनारे मछलीपट्टम तक का मार्ग गोदावरी के सहारे जाता है । पूना से कांजीवरम का मार्ग भी कृष्णा के सहारे जाता है। यही कारण है कि पुराने समय में शक्तिशाली राज्यों के स्थान तथा राजधानी इन्हीं मार्गों से सम्बन्धित रहीं। आजकल इन्हीं मार्गों से होकर रेलें जाती हैं।

तटीय प्रदेश

पश्चिमी तथा पूर्वी घाट से लेकर भारतीय समुद्र के किनारे तक स्थल भूमि है जो समुद्र के किनारे के मैदान के नाम से प्रसिद्ध है। भारत का सामुद्रिक किनारा कटा फटा नहीं है । किनारा सपाट होने के कारण पश्चिमीय विद्वानों की यह भ्रम-पूर्ण धारणा रही कि भारत में कभी भी नाविक शक्ति तथा जल सेना न थी । परन्तु यह धारणा असत्य है । डा० कुमारस्वामी ने पूर्ण रूप से अपनी पुस्तक आर्ट एंड क्राफ्ट में सिद्ध कर दिया है कि जहाज बनाने की प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन समय से प्रचलित थी । बड़े जहाज में बैठ कर भारत के लोग व्यापार करने मैडागास्कर, अरब, पूर्वी द्वीपसमूह तथा लंका तक जाया करते थे । टालेमी तथा मैक्री-न्डल ने साफ तौर से लिखा है कि भारत के पश्चिमी किनारे पर सामुद्रिक व्यापार मिस्र तथा रोम से हुआ करता था । गुप्त सम्राटों के समय में चीनी यात्री फाहियान ने अपनी अन्तिम यात्रा जहाज द्वारा समाप्त की । वह ताम्रलिप्ति (बंगाल) से जहाज में बैठ कर लंका (सिंहल), जावा, सुमात्रा (स्वर्णद्वीप) होते चीन को वापस

गया था । जावा द्वीप के इतिहास में भी ऐसे उल्लेख मिले हैं जिसमें गुजरात के एक राजकुमार का वर्णन मिला है जो पाँच बड़े जहाजों में हजारों मनुष्यों के साथ जावा पहुँचा । इन सब बातों से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में सामुद्रिक व्यापार अच्छे पैमाने पर था । मध्यकाल में शिवाजी तथा हैदर अली के पास भी जहाजी बेड़ा था।

पश्चिमी किनारा ताप्ती के मुहाने से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है । इस किनारे की भूमि तंग है और तीस से चालीस मील चौड़ी है । पहाड़ से छोटी-छोटी नदियां शीघ्र ही समुद्र में गिर जाती हैं। वे मिट्टी लाकर मैदान में बिछा देती हैं। मानसून से पानी भी बहुत बरसता है । अतः यहाँ पर पैदावार में धान की अधिकता है। बीच में नारियल और सुपारी भी होती है । पहाड़ों पर सागौन की लकड़ी पैदा होती है। रबड़ के पेड़ भी यहां पाए जाते हैं। किनारे के उत्तरी भाग को कोकण तथा दक्षिणी भाग को मालाबार कहा जाता है । इस भाग में कुछ द्वीपसमूह भी हैं। बम्बई नामक द्वीप पर बम्बई शहर बसा हुआ है । इसके समीप ही एलिफेन्टा नाम का एक द्वीप है जिस के पहाड़ में चट्टान काट कर मंदिर तथा मूर्तियाँ बनायी गयी हैं । यहाँ से दूर इस किनारे पर गोआ नाम का बन्दरगाह है जो पुर्तगाली लोगों के अधीन है ।

पूर्वी किनारे के मैदान की दशा इसके प्रतिकूल है । यह गंगा के मुहाने से लेकर सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ है । किनारे का नाम चोलमण्डल है, परन्तु भूमि को करनाटक कहते हैं। पश्चिमी तथा पूर्वी तटीय प्रांत को मिलाने वाली मनार की खाड़ी है। यह मोतियों तथा शंख के लिए प्रसिद्ध है । मोतियों को गोताखोर समुद्र से निकालते हैं। इसी के समीप ही रामेश्वर का पुल है जिसको रामचन्द्र ने लंका विजय के लिए तैयार कराया था। पूर्वी किनारे की भूमि प्रायः तीन सौ मील तक चौड़ी है । यहाँ पर सब नदियों—गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि—का मुहाना है । गर्मी का दिन सूखा रहता है ।

जाड़े में उत्तरी पूर्वी मानसून से पानी बरसता है। भूमि उपजाऊ है। वर्षा की कमी से सिँचाई का प्रबंध किया गया है। यहां सिंचाई का विचित्र आयोजन है जिसके द्वारा पश्चिमी घाट का पानी सुरंग द्वारा मद्रास प्रांत में लाया जाता है। दस लाख एकड़ जमीन की सिँचाई होती है ज़हां धान की प्रधान फसल है। कपास, मूंगफली, गन्ना तथा तम्बाकू भी पैदा होते हैं। पहाड़ों की ढालों पर टीक तथा चन्दन के वृक्ष पाए जाते हैं। समुद्रतट पर नमक निकाला जाता है तथा मछली मारी जाती है। इस किनारे की आबादी घनी है। प्रायः चार सौ मनुष्य प्रति वर्गमील में निवास करते हैं। किनारे पर अच्छे अच्छे बन्दरगाह हैं। मद्रास के दक्षिण में पांडेचेरी का स्थान फ्रान्सीसियों के हाथ में है। यहाँ से धनुषकोटि होकर लंका जाते हैं।

प्राचीन तथा मध्य काल में स्थल ही की विशेषता थी। शत्रु का आक्रमण पंजाब पर सर्वप्रथम होता रहा। परन्तु योरपवालों के आने के समय से सामुद्रिक तटीय प्रदेश की महत्ता बढ़ गयी। किनारे की भूमि पर ही प्रथम प्रभुत्व जमाया गया। करनाटक के लिए बहुत बड़े युद्ध हुए। पूर्वी तथा पश्चिमी किनारे की भूमि प्रथम और अन्य प्रान्तों को अधिकार में करने के बाद पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया। समय के परिवर्तन तथा योरपीय सामुद्रिक शक्ति के कारण ऐसी घटना हुई। मद्रास तथा कलकत्ते में किले बनवाए गए। इस प्रकार भारतीय इतिहास में तटीय प्रदेश की भी महत्ता योरपवालों के आने के साथ साथ बढ़ गयी।

पूर्वोक्त बातों से यह ज्ञात होता है कि भारत की भूमि अत्यन्त उपजाऊ तथा सुन्दर खेतों और जंगलों से सुशोभित है। हरे हरे खेत कितना मन को हरनेवाले होते हैं! पहाड़ों पर सघन वनों के दृश्य अत्यन्त आकर्षक होते हैं तथा पहाड़ों पर शहर और बर्फ से ढकी हुई पर्वत की चोटियाँ देखने योग्य होती हैं! जैसी सुन्दरता वैसी ही धान्य आदि की प्रचुरता भी

जलवायु का प्रभाव

हैं। धान, गेहूँ, कपास आदि सभी अन्न व वस्तु मनुष्य के आवश्यकतानुसार प्रकृति ने दिए हैं। कोयला, लोहा, ताम्बा, सोना आदि खनिज पदार्थ भी खान से निकलते हैं। हीरा और मोती की भी कमी नहीं है। जल विद्युत शक्ति से व्यापार तथा कारखाने को अच्छी सहायता मिलती है। इन सब बातों के फलस्वरूप लोग यहाँ सुखपूर्वक स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायु में जीवन बिताते हैं। कर्क रेखा भारत के बीचोबीच से जाती है। उत्तरी भारत की जलवायु प्रायः समशीतोष्ण है। पानी भी अच्छा बरसता है। गर्मी तथा सर्दी का माप प्रत्येक प्रांत में भिन्न होता है। पंजाब व सरहदी सूबे में सर्दी गर्मी अधिक होती हैं तो बंगाल आदि प्रान्तों में नम जलवायु है। दक्षिण भारत सदा गर्म रहता है। किनारे के मैदान में चित्त को प्रसन्न रखने वाली सुन्दर जलवायु है। जलवायु के कारण यह देश खेती के लिए अच्छा स्थान बन गया है। जलवायु के बदलने से ही वहां भिन्न प्रकार की वनस्पति, खनिज पदार्थ और पशु होते हैं जो जीवन को सुखी तथा आनन्दमय बनाते हैं। उत्तरी मैदान में सब प्रकार की पैदावार, पठार में खनिज पदार्थ तथा पशु, काश्मीर में भेड़, सिन्ध राजपुताना में ऊंट, और बंगाल में शेर पाए जाते हैं। इन सब बातों से भारतवर्ष एक स्वयं पूर्ण देश है जिसको बाहर से किसी चीज के मँगाने की आवश्यकता नहीं। जलवायु ही के कारण पर्वतनिवासी कठोर परिश्रमी जाति बन जाते हैं। इसी के कारण मनुष्य के मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में बुद्धि जीवी को काम करने में सरलता होती है। इस देश में वस्त्र या पहनावे के तरीके को भी जलवायु ने स्थिर किया है। पर्वतों पर गर्म तथा चुस्त वस्त्र पहनते हैं। मैदानों में सूती या रेशमी पर ढीले वस्त्र का प्रयोग करते हैं। अधिक गर्म प्रान्तों में गहरे रंग का वस्त्र पसंद किया जाता है, परन्तु ठंढे व नम जलवायु में हलके रंग का कपड़ा पहनते हैं। इस प्रकार जलवायु की भिन्नता से भारतवर्ष में लोग सुखी हैं। आर्थिक जीवन में सरलता है। उनकी रहन-सहन उसी के अनुकूल हो गयी है। संसार में इस

प्रकार का देश बिरला ही है । सब प्रकार से भारत धन-धान्य-पूर्ण है।

समस्त प्राकृतिक विवरण के विवेचन के पश्चात् यह बात प्रकट होती है कि भारत की भौगोलिक स्थिति ने भी इसकी महत्ता को बढ़ाया, इसको स्वर्गभूमि का नाम दिया तथा विदेशी शत्रुओं को इसकी ओर खींचा। हर एक भाग एक दूसरे की कमी को पूरा करता है और भारत की एक जातीयता (nationality) सिद्ध करता है। महान देश होने पर भी, भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के होते हुए भी यह देश एक संस्कृति और सभ्यता के तागे से बँधा हुआ है । उत्तर में हिमालय और तीन ओर समुद्र और पर्वतों से घिरे रह कर भारत ने अपनी सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित रक्खा, 'गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती' का पाठ पढ़ाया, वेद तथा रामायण और महाभारत के संदेश लोगों के घर घर में पहुँचाया। ऐसी स्वर्गमयी वसुन्धरा की सांस्कृतिक गौरव गाथा पाठकों को इस पुस्तक के अगले अध्यायों में सुनाई जायगी।

भारतीय सभ्यता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय सभ्यता का इतिहास कहां से प्रारम्भ होता है, इस विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से भारत में ऐतिहासिक काल का आरम्भ मानते थे। परन्तु पुरातत्व सम्बन्धी अन्वेषणों के आधार पर वह मत मान्य नहीं है। सिन्ध में मोहूं-जो-दडो में जो खुदाई हुई और जो सामग्रियां निकली हैं उनके अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व ३००० वर्ष में वह स्थान भारतीय सभ्यता का केन्द्र था। उस आधार पर संसार में भारत की संस्कृति सब से पुरानी सिद्ध होती है। मिस्र, बेविलोनिया तथा एसिरिया की सभ्यता से यहां का सभ्य जीवन घट कर न था। हरप्पा का नाम भी इस प्रसंग में लिया जा सकता है। इतना परिज्ञान होते हुए भी यह कहना कठिन है कि मोहूं-जो-दडो तथा वैदिक सभ्यता में कौन पहले का है। अधिकतर विद्वान वैदिक सभ्यता को उसका अनुगामी मानते हैं। अस्तु। सभ्यता के तिथि का विवेचन न कर यह कहना पर्याप्त होगा कि भारत में ईसा पूर्व ३००० वर्ष से एक ऊंची सभ्यता का प्रचार था। वैदिक कालीन सभ्यता का दिग्दर्शन अगले पृष्ठों में मिलेगा। यहां पर वैदिक काल के पश्चात् ऐतिहासिक युग के आरम्भ से भारतीय इतिहास का अध्ययन किया जायगा। ईसा पूर्व ६०० ई० में भारत सोलह महाजनपद में बँटा हुआ था। जिसमें प्रजातंत्र तथा राजतंत्र दोनों सम्मिलित थे। उन्हीं के कोशल, वत्स तथा मगध आदि प्रधान माने जाते थे। कपिलवस्तु के शाक्यवंश में गौतम का जन्म हुआ तथा वैशाली में महावीर का। इन्हीं महापुरुषों ने बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म का प्रचार कर धार्मिक जागृति पैदा कर दी। राजाओं में आपसी युद्ध भी होते रहे जिसमें मगध शासक शक्ति में सर्व प्रथम आये।

शक्ति के कारण ही मगध में शैशुनाग वंश का प्रभावशाली राज्य उत्तरी भारत में फैला जिसकी पाटलिपुत्र राजधानी बनायी गयी। गौतम बुद्ध के कारण मगध के समीप प्रदेश बुद्धधर्म से प्रभावित हुए, क्योंकि जनता यज्ञ तथा कर्मकाण्ड से घबड़ा गयी थी। नया नेता देख कर लोग उसी के अनुयायी हो गये। विम्बसार उसी धर्म का अनुयायी हुआ। साथ में तीर्थंकर महावीर भी धर्म प्रचार में लगे थे । परन्तु बुद्धधर्म को ही राजाश्रय मिला । मगध के राजा महापद्म नंद के समय में सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की थी पर वह पंजाब से आगे न बढ़ सका। उस समय में पश्चिम से भारत का सम्पर्क स्थापित हो गया और आवागमन होने लगा । नंदवंश का विरोध कर सिकन्दर की चढ़ाई से चन्द्रगुप्त मौर्य ने लाभ उठाया और चाणक्य की सहायता से उसने मगध पर अधिकार कर लिया। चन्द्रगुप्त मौर्य एक शक्तिशाली पुरुष था। थोड़े ही दिनों में उसने सारे उत्तरी भारत तथा दक्षिण में मैसूर तक राज्य फैलाया। भारतवर्ष में सर्वप्रथम साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय इसी को है। साम्राज्य को सुदृढ़ कर उसने सुशासन भी प्रारम्भ किया जिसके जीवन की विशेष घटनाओं में यूनानी सेनापति सेल्यूकस से इसका युद्ध माना जाता है। सन्धि के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य को उत्तर पश्चिम सीमा के प्रदेश मिले। इससे सम्राट् ने अपनी सीमानीति सुदृढ़ बना ली। कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर यह कहा जाता है कि सीमा लांघने के लिए विदेशियों को आज्ञापत्र (पासपोर्ट) दिए जाते थे। मौर्य-वंश का जगत्प्रसिद्ध सम्राट् अशोक था जिसने पितामह की साम्राज्य नीति को बदल दिया । कलिंग युद्ध के बाद वह बौद्ध मतानुयायी हो गया और भेरी घोष को धर्म्मघोष में परिवर्तित कर दिया। राजाश्रय पाने से बुद्ध धर्म की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। समस्त सीमा राज्य, एशिया तथा योरप में धर्म प्रचारक भेजे गये। धर्म के बल पर वह संसार में विजयी हो गया। बौद्ध युग का आरम्भ इसी से माना जाता है । अशोक ने शिला तथा स्तम्भ लेख बुद्ध

धर्म के प्रचार तथा राजशासन के लिए खुदवाए थे। यद्यपि सम्राट् अशोक का राज्य सुदूर दक्षिण से काबुल तक फैला था परन्तु उसके उत्तराधिकारी इस विस्तृत साम्राज्य को सम्भाल न सके । लोगों का कहना है कि धर्मघोष ने जनता में अहिंसा के भाव इस हद तक भर दिया था कि पुरुषत्व तथा वीरता जाती रही। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म को नष्ट करने तथा ब्राह्मण धर्म के पुनः उत्थान का प्रयत्न किया। मौर्य वंश का अंतिम राजा को मार कर वह राजा बनाया गया लेकिन यह अनुमान किया जाता है कि जनता में अशांति पैदा हो गयी थी । इन बातों का पता भारतीय यूनानी राजाओं को था और भारतीय शासक को कमजोर पाकर उन्होंने अयोध्या तथा मध्यभारत तक चढ़ाई कर दी। कमजोरी के कारण खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की तथा सीमा नीति पर ध्यान न देने से पहली सदी में युईची लोगों की एक शाखा ने उत्तर पश्चिमी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। दूसरी ने पश्चिमी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया जहां पर क्षहरात तथा क्षत्रप वंश के राजाओं ने चौथी सदी तक शासन किया था। यद्यपि वे विदेशी थे परन्तु भारतीयता के रंग में रंग गये और समाज में मिल गए। उन्होंने भारतीय नाम, पहनावा, भाषा तथा लिपि को अपनाया। उन लोगों में ऋषभदत्त तथा रुद्रदामन का नाम प्रसिद्ध है। ऋषभदत्त बड़ा भारी दानी था। उसने हजारों रुपये तथा गाय ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं को दान में दिया था। रुद्रदामन का नाम गिरनार पर्वत पर खुदे लेख ने अमर बना दिया जो भारतीय संस्कृत साहित्य का पहला खुदा लेख है। उत्तर पश्चिम में कुषाण शासकों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था जिसके शासक कनिष्क का राज्य मध्य एशिया के खोतान से लेकर काशी तक फैला था । पेशावर इसकी राजधानी थी । बौद्ध युग का (ईसापूर्व छठी सदी से ईसवी सन् दूसरी सदी) यह अंतिम राजा था। वहां पर इसने बौद्ध भिक्षुओं की चौथी सभा बुलवायी थी। उसी

शासन काल से भारतवर्ष से मध्यएशिया का सम्पर्क स्थापित हो गया और वहां भारतीय संस्कृति फैली । भारत का व्यापार वहां गया तथा उपनिवेश बसे । भारतवासी मध्यएशिया होकर चीन तक जाने लगे । इसी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को स्थिर रखने के लिए कुषाण काल में सोने के सिक्के सर्वप्रथम तैयार किए गए । भारत में राजतंत्र के साथ प्रजातंत्र शासन भी चल रहा था । पंजाब में गण राज्यों से सिकन्दर की मुठभेड़ हुई थी जो मौर्य काल में सम्राट् के प्रभुत्व के कारण दबे रहे । शक तथा कुषाण सीमा में अनेक गण स्थित थे परन्तु उनके कमजोर पड़ने पर संघ ने सिर उठाया जिस के कारण कुषाण राज्य का ह्रास हो गया । यौधेय, मालव तथा आर्जुनायन गणों में प्रधान थे । शक तथा संघ के युद्ध में विजयी होने के कारण उन्होंने अपने सिक्कों पर जय शब्द का प्रयोग किया था । यौधेय गणस्य जय, मालवानां जय आदि सिक्कों पर मिलते हैं ।

कुछ वर्ष पूर्व तक ऐतिहासिक क्षेत्र में कुषाणों के बाद तथा गुप्तों से पहले का भारतीय इतिहास अन्धकारमय माना जाता था । परन्तु अन्वेषण के क्रम में उस काल में बाकाटक तथा नागवंशी राजाओं की स्थिति का पता चला है । बाकाटक वंश का शासन दक्षिण के विदर्भ में था और नागवंशी राजा मध्यभारत में शासन करते रहे । पूना के एक ताम्रपत्र के आधार पर यह ज्ञात होता है कि प्रभावती गुप्ता सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री थी और वाकाटक वंश में ब्याही थी । इससे उस वंश की महत्ता का पता चलता है । वाकाटक प्रवरसेन प्रथम एक प्रतापी राजा था जिसने अपने राज्य का विस्तार किया था और सम्राट् की पदवी धारण की थी । वह कट्टर हिन्दू था इस कारण अश्वमेध, अग्निष्टोम आदि छोटे बड़े यज्ञ सम्पन्न किया । उस वंश के राजा रुद्रसेन द्वितीय को प्रभावती गुप्ता ब्याही थी । इस वंश में कई राजा राज्य करते रहे परन्तु छठी सदी के मध्य में उनका ह्रास हो गया । मध्यभारत के नागवंशी राजा भारशिव के नाम से पुकारे जाते थे । इनके लेख में भारशिव की पदवी इसलिए

मिलती है कि राजा लोग शैव होने के कारण शिवलिंग को कन्धे पर ढोते रहे।

चौथी सदी में भारत का सम्पूर्ण राजनैतिक वातावरण बदल गया। उसी समय पाटलिपुत्र में गुप्त वंश का राज्य स्थापित हो गया जो ब्राह्मण धर्म के समर्थक थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवी वंश की राजकुमारी से ब्याह कर वंश को प्रकाश में ले आया। पाटलिपुत्र के समीप के प्रदेश पर इसके पितामह का शासन था परन्तु चन्द्रगुप्त प्रथम ने राज्य को बढ़ाया और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। इसी ने सन् ३१९ में गुप्त सम्वत् को स्थापित किया जो किसी विजय के स्मारक में चलाया गया था। विष्णुपुराण में "अनुगंगा प्रयागं च साकेत मागधां" के वर्णन से प्रकट है कि पाटलिपुत्र से प्रयाग तथा अयोध्या तक गुप्त राज विस्तृत था। सम्भवत: वैशाली भी इस राज्य में मिला लिया गया था। यद्यपि गुप्त वंश का आरम्भ प्राचीन साम्राज्य भावना को लेकर हुआ था परन्तु चन्द्रगुत के पुत्र समुद्रगुप्त से पहले वह कार्यान्वित न हो सका। उसने समस्त भारत के शासकों को दिग्विजय यात्रा में परास्त किया था जिसका वर्णन प्रयाग के स्तम्भ लेख में मिलता है। पाटलिपुत्र से चलकर महाकोशल (मध्यप्रान्त), उड़ीसा, मद्रास के कांची तथा खानदेश के राजाओं को (सर्व दक्षिणापथ राज ग्रहण) परास्त किया और राजधानी को वापस लौटा। समुद्रगुप्त धर्म विजयी राजा था क्योंकि इसने किसी राज्य को सीधे गुप्त राज्य में सम्मिलित नहीं कर लिया था वरन् जीत कर उसी वंश को राज्य भार दे कर यश का भागी बना था। उत्तरी भारत में शासन करने वाले रुद्रदेव मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्म, गणपतिनाग, नागसेन, नन्दि, बलवर्मा आदि नरेशों को समूल नष्ट कर दिया और अपनी राज्यसीमा को विस्तृत किया। जंगलों के सभी नरेश उसके हाथों नष्ट किए गए और मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मुद्रक, आदि गणतंत्रों को समुद्रगुप्त ने सदा के लिए समाप्त कर दिया। जो सीमा

प्रदेश के राजा थे उन्होंने गुप्तसम्राट् को नजर भेंट किया और भविष्य में मैत्री रखने के लिए बचन दिये। इतना ही नहीं देश के बाहर द्वीप शासकों ने उनकी मुहर युक्त आज्ञापत्र को स्वीकार कर अधीनता में रहने की प्रतिज्ञा की। इस तरह प्रयाग के लेख में उसके सारे विजय का विवरण पाया जाता है। गुप्तकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए प्रशस्तियाँ बहुत सहायता करती हैं। उनकी सहायता से सारा सांस्कृतिक इतिहास तैयार किया जाता है। इन्हीं के द्वारा राजा की शूरता, वीरता, विद्वत्ता आदि गुण तथा शासन शैली का पता लगता है। समुद्र का उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है परन्तु ऐतिहासिक खोज से इन दोनों के बीच राज्य करने वाले रामगुप्त राजा की स्थिति मालूम हुई है। वह थोड़े समय तक राज्य करता रहा पर चन्द्रगुप्त विक्रमा दित्य ही वास्तविक उत्तराधिकारी माना गया है। उसने पश्चिमी भारत में शकों को परास्त कर शकारि की पदवी धारण की और उत्तरी भारत के अधिक भाग पर शासन किया। उस भाग को जीतने के बाद सुशासन रखने के लिए उज्जयिनी को राजधानी बनाया जो सदा से पाटलिपुत्र तथा समुद्र किनारे के बन्दरगाहों से मध्यस्थ का काम करती रही। शकों के प्रचलित चांदी के सिक्कों की शैली को गुप्त सम्राट् ने अपनाया। सुवर्ण के सिक्के तो चन्द्रगुप्त प्रथम के समय से बनते रहे परन्तु चांदी के सिक्के आरम्भ करने का श्रेय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को है। इसके दरबार में नवरत्न रहा करते थे जिनमें महाकवि कालिदास के नाम से सभी परिचित होंगे। संस्कृत राजभाषा हो गयी थी इस कारण संस्कृत साहित्य की उन्नति हुई। कला को भी विशेष स्थान दिया गया था। सभी गुप्त सम्राटों ने अपने काल में धर्म तथा कला को प्रश्रय दिया गया था। वैष्णव धर्म के अनुगामी होने के कारण राजा 'परम भागवत' की पदवी से विभूषित किये गये थे। उस समय अन्य धर्म तथा मत की उन्नति के मार्ग में कोई बाधा न थी। राजा सहिष्णु होने के कारण सभी धर्मों

को बढ़ने का अवसर देते रहे। यही कारण है कि ब्राह्मण धर्म का प्रचार होने पर भी बौद्ध प्रतिमायें अधिक संख्या में बनती रहीं। विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में कला चरम सीमा को पहुंच गयी थी। प्रत्येक सांस्कृतिक अंग का सुन्दर निर्माण होता रहा। सभी बातों पर विचार करने पर इन गुप्त राजाओं के राज्यकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग मानते हैं। इतना होते हुए भी गुप्त शासकों में सीमानीति के प्रति उदासीनता थी। उस कारण मध्य एशिया से आकर हूण लोगों ने भारत के उत्तर पश्चिम भाग पर आक्रमण किया। यों तो कुमारगुप्त के राज्य काल में सर्वत्र सुख तथा शांति रही परन्तु जीवन की अंतिम घड़ियों में हूण लोगों ने चढ़ाई कर दी थी जिसका सामना स्कन्दगुप्त ने किया था। स्कन्दगुप्त के भितरी प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि हूणों के कारण पृथ्वी कांप रही थी (हूणैः यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कंपिता) परन्तु स्कन्द ने पूरी तरह से उनको परास्त कर शांति स्थापित की। इन कारणों से स्कन्दगुप्त का शासन पूर्वजों की तरह शांतिपूर्ण न रहा। उसके लेख तथा सिक्के यह बतलाते हैं कि यह नरेश अशांतिमय वातावरण में काम करता रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि सन् ३२० से लेकर प्रायः ४६७ ई० तक यानी डेढ़ सौ वर्षों तक गुप्त साम्राज्य की प्रधानता रही। स्कन्दगुप्त की अंतिम तिथि ४६७ ई० चांदी के सिक्कों पर उल्लिखित मिलती है। जिसमें "परमभागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त" लिखा रहता है। इसके बाद गुप्त शासक भी कमजोर पड़ गए और हूण बार बार चढ़ाई करते रहे। पश्चिमी भारत तो शीघ्र ही गुप्त साम्राज्य से पृथक हो गया परन्तु मालवा से उत्तरी बंगाल तक स्कन्द के वंशज शासन करते रहे। उन वंशजों में पुरगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त का नाम लिया जा सकता है। बुधगुप्त को गुप्त वंश का अंतिम सम्राट् कहने में कोई आपत्ति नहीं होगी। ५१० ई० में हूण आक्रमणकारियों ने मध्य भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था जिसकी पुष्टि

भानुगुप्त के एरण स्तम्भ लेख से होती है। उसके बाद गुप्तवंश का ह्रास हो गया। पिछले गुप्त-नरेशों के लेख स्थान-स्थान पर मिलते हैं जिससे पाटलिपुत्र के अत्यन्त समीप प्रदेश पर उनका शासन मालूम पड़ता है। उस पाटलिपुत्र की महत्ता जाती रही। छठी सदी के अंतिम आधे भाग से कन्नौज को वह स्थान मिल गया। वहां मौखरि वंश का राज्य आरम्भ हुआ। उस वंश के अंतिम राजा ग्रहवर्मा को बंगाल के राजा शशांक ने मार डाला। इस कारण मौखरि वंश के सम्बन्धी थानेश्वर के शासक हर्ष को कुल राज्य का भार सौंपा गया।

उस समय से भारत में विभिन्न वंश के राजा सीमित क्षेत्रों में शासन करते थे। सातवीं सदी के आरम्भ में बंगाल में शशांक, कन्नौज की गद्दी पर हर्ष तथा दक्षिण में चालुक्य वंश की प्रधानता थी। राजा हो कर हर्षवर्धन ने भारत में एकक्षत्र राज्य स्थापित करने का विचार किया था और इसी कारण बंगाल पर चढ़ाई कर शशांक को जीत लिया। दक्षिण के शासक पुलकेशी द्वितीय से भी युद्ध हुआ जिसमें हर्ष को हार खानी पड़ी थी। इतना होते हुए भी हर्ष का राज्य काश्मीर से लेकर बंगाल तक विस्तृत था। तत्कालीन चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा भी है कि हर्ष के दरबार में आसाम (कामरूप) के शासक तथा गुजरात के बलभी नरेश मित्र के रूप में आया करते थे। प्रयाग की सभा में सभी लोग उपस्थित रहते थे। इस कारण हर्ष को सम्राट् कहा जा सकता है। यह तो सर्व प्रथम ब्राह्मण धर्म को मानता था पर पिछले दिनों में यह बौद्ध बन गया। हर्ष के मरने (६४७ ई०) के बाद कन्नौज की गद्दी के लिए झगड़े होते रहे। बंगाल में पाल वंश का राज्य था। राजपुताने में गुर्जर प्रतिहार शासक थे। दक्षिण में राष्ट्रकूटों ने चालुक्य का स्थान ग्रहण कर लिया था। इन तीनों राजाओं में कान्यकुब्ज पर अधिकार करने की होड़ मची थी। अंत में गुर्जर प्रतिहार विजयी हुए और पश्चिम से आकर कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। यहीं पर इनकी

परम उन्नति हुई। इस वंश में मिहिरभोज (८३६-८५ ई०) तथा महेन्द्रपाल (८८५-९१० ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका राज्य काश्मीर से विन्ध्या तक तथा राजपूताने से लेकर बिहार प्रांत तक फैला था । अरब लेखकों ने गुर्जर प्रतिहार राजाओं को मुसलमानों का परम शत्रु बतलाया है। इनके पास बड़ी भारी सेना थी। इस कारण सिन्ध तथा मुल्तान के आगे अरब विजेता बढ़ न सके । महेन्द्रपाल का भय इतना अधिक था कि १० वीं सदी तक मुसलमान घिरे रहे और सीमित क्षेत्र (सिन्ध) से बाहर न जा सके। मुल्तान के सूर्य मंदिर को तोड़ने का भय दिखा कर गुर्जर प्रतिहार के आक्रमण से बच जाते। प्रतिहार राजा धार्मिक भय के कारण अरब वालों को ज्यों का त्यों रहने देते पर महेन्द्रपाल के मरने के बाद (सन् ९१० ई०) सारी परिस्थिति बदल गयी। प्रतिहार साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गए और प्रत्येक स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे। इन्हीं छोटे राजाओं का अन्त हिन्दू भारत का अंतिम समय माना गया है । चन्देल, चेदि, पाल तथा राजपूत रियासतें कायम हो गयीं। कन्नौज में गहड़वाल वंश का राज्य प्रतिहारों के स्थान पर स्थापित हो गया। गोविन्दचन्द देव के नाम से सभी परिचित हैं। वह अत्यन्त दानशील राजा था जिसके सैकड़ों दानपत्र काशी के पास मिले हैं। वह ग्रहण या किसी पुण्य तिथि को काशी में आकर गंगा में स्नान-तर्पण करके दान दिया करता था। इसकी कीर्ति उन्हीं ताम्रपत्रों में लिखी पड़ी है । उसके बाद विजयचन्द्र का उत्तराधिकारी जयचन्द्र गद्दी पर बैठा जिसके सम्बन्ध में अनेक कथायें कही जाती हैं। सब से अधिक प्रसिद्ध संयोगिता का स्वयंवर था। पृथ्वीराज चौहान उसकी पुत्री संयोगिता को लेकर भाग गया और उसी दिन से दोनों वंशों में परस्पर द्वेषभाव चलता रहा । शहाबुद्दीन गोर (जिसे मुहम्मद बिन साम भी कहा जाता था) ने उसी के कहने पर पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था। अंत में चौहान-नरेश को हार खानी पड़ी। जयचंद्र अदूरदर्शी था। अंत में उसकी भी दशा चौहान-नरेश की तरह हुई।

मुसलमान सेना कन्नौज को जीत कर पूरब की ओर बढ़ती गयी। काशी को अपने अधिकार में कर बंगाल तक पहुँच गयी। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में (१२ वीं सदी तक) मुसलमान सिन्ध से बंगाल तक फैल गये ।

मध्यभारत में चंदेल वंश का राज्य था जिसका प्रधान स्थान कालिंजर तथा महोबा था। उस भूभाग को जेजाक भुक्ति कहा जाता था। चंदेल राजा गुर्जर प्रतिहार के सामंत के रूप में शासन करते थे। उनकी अवनति के अवस्था में ग्वालियर पर चंदेलों का अधिकार हो गया जिससे प्रतिहार वंश को बड़ा धक्का लगा पर कुछ चारा न था। खजुराहों के लेख में धंग नामक राजा को संस्थापक कहा गया है। उसका पुत्र गण्ड भी पराक्रमी था जिसने १००८ ई० में महमूद के आक्रमण को विफल बनाने के लिए आनन्दपाल साही की सहायता की थी। दस ही वर्ष के बाद परिस्थिति बदल गयी। १०१९ ई० में मुसलमान फौजें चढ आयीं। चार वर्ष में ही ग्वालियर को जीत लेने के बाद महमूद ने कालिंजर पर विजय प्राप्त किया। इस वंश के राजा कीर्तिवर्मन ने चेदि वंश को परास्त कर पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त की थी । उसी की तरह मदनवर्मन ने भी चेदि तथा परमार राजाओं से चंदेल वंश की प्रतिष्ठा बचाई थी । जनता में सब से प्रसिद्ध चंदेल राजा परमर्दि या परमा परमाल हो गया है। इसी ने पृथ्वीराज चौहान से युद्ध किया था जिन्होंने महोबा तथा अन्य स्थानों को जीत लिया था। परमाल उसमें विजयी रहा । पर १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन ने कालिंजर पर अधिकार कर लिया जिसमें परमाल मारा गया और कालिंजर तथा महोबा के प्रदेश पर मुसलमान गवर्नर शासन करने लगा ।

यह कहा जा चुका है कि गुर्जर प्रतिहार राज्य के अंत हो जाने पर उसी के स्थान पर कई छोटी छोटी रियासतें कायम हो गयी। चंदेलों के समीप एक कलचूरि रियासत स्थापित की गयी जिसके आदि पुरुष का नाम कोक्कल था। ९ वीं सदी के अंत में जलबपुर

(प्राचीन डहाल) के प्रदेश में यह राज्य स्थापित किया गया था। धीरे धीरे यह राज्य शक्तिशाली हो गया परन्तु कोक्कल के उत्तराधिकारी के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं। उस वंश के सर्व प्रधान राजा गांगेयदेव के विषय में अनेक बातें ज्ञात हैं। ११ वीं सदी के मध्य तक (१०१९-१०४५ ई०) वह राज्य करता रहा। अपने प्रताप के कारण ही गांगेयदेव चेदि का नाम सर्व प्रसिद्ध है। यद्यपि महोबा के लेख में अतिशयोक्ति भरे वाक्य मिले हैं जिस कारण राज्य विस्तार के बारे में अनुमान नहीं किया जा सकता। अस्तु। यह तो मानना ही पड़ेगा कि गांगेयदेव ने कांगरा की घाटी, काशी तथा प्रयाग तक के प्रदेशों को जीत लिया था। अरब लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि १०३३ ई० में काशी गांगेयदेव के अधिकार में था (इलियट–हिस्ट्री आफ इंडिया, भा० २, पृ० १२३) उसका उत्तराधिकारी लक्ष्मीकर्ण भी पूरे उत्तरी भारत का शासक बना रहा और काशी में अनेक मंदिर निर्माण कराये। प्रतिहार राज्य के नष्ट हो जाने पर ही चेदि राजाओं को उत्तरी भारत में फैलने का अवसर मिला था परन्तु परमार नरेश भोज ने इनके प्रताप को समाप्त कर दिया। ११ वीं सदी के अंत में लक्ष्मणदेव परमार ने कलचूरि राजधानी त्रिपुरी पर विजय पताका फहरायी।

यह लिखा गया है कि कन्नौज को राजधानी बनाने से पहले गुर्जर प्रतिहार उज्जैन में निवास करते थे। इस नगर के लिए प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट राजाओं में युद्ध होता रहा पर प्रतिहारों का ही अधिकार रहा। सम्भवत: १० वीं सदी में उज्जयिनी पर शासन करने वाले परमार राजा गुर्जर प्रतिहार अथवा राष्ट्रकूट शासकों के सामंत के रूप में राज्य करते रहे। प्रतिहार वंश की अवनति की हालत में परमार राज्य की नींव पड़ी। वाकपतिराज उस वंश का पहला शक्तिशाली राजा हुआ है जिसके दरबार में अनेक संस्कृत के विद्वान् आश्रय पाकर रहते थे। कलामर्मज्ञ होने के कारण धारा नगरी में उसने अनेक सुन्दर मंदिर तैयार कराये। उसके पुत्र सिन्धुराज के

विषय में पद्मगुप्त रचित नवसाहसाक चरित मे वर्णन पाया जाता है कि उस राजा ने हूण शासक को परास्त किया था। सिन्धुराज का उत्तराधिकारी परमार भोज भारतवर्ष का एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हो गया है जिसके नाम से सभी परिचित होंगे। उसने धारा नगरी को कन्नौज के सदृश प्रमुख बना दिया। भोज ने अपनी शक्ति के प्रदर्शन करने के निमित्त अनेक राजाओं पर आक्रमण किया और दक्षिण भारत पर अधिकार स्थापित करना चाहता था परन्तु चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय ने उसे सफल न होने दिया। लेखों में वर्णन मिलता है कि भोज ने कचलूरी राजा गांगेयदेव पर विजय प्राप्त कर उत्तर भारत की ओर दृष्टि डाली। कहा जाता है कि परमार राजा ने कन्नौज को भी जीत लिया था और उसी सिलसिले में उत्तरी भारत के मुसलमान विजेताओं से भी मुटभेंड़ हुई थी। निरंतर युद्ध में फंसे रहने के कारण भोज अपनी शक्ति को सुदृढ़ न कर सका और अंत में उसे चालुक्य राजा सोमेश्वर के हाथों परास्त होना पड़ा। यद्यपि उसे युद्ध क्षेत्र छोड़ कर भागना पड़ा था तथापि भोज ने सेना एकत्रित कर अपने राज्य को पुनः छीन लिया। चालुक्य शासक स्वयं तो भोज की कुछ हानि न पहुंचा सके परन्तु कलचूरी राजा से मित्रता कर दो तरफ से परमार राज्य पर आक्रमण किया था। इसी बीच पचपन वर्ष तक राज्य करने के बाद भोज मर गया। भोज का नाम संस्कृत साहित्य में सर्व प्रसिद्ध है जो कविराज की पदवी से विभूषित किया गया था। उसके नाम से दो दर्जन पुस्तकें विभिन्न विषयों पर प्रकाशित हुई हैं। यह कहना कठिन है कि युद्ध में फंसे रहने पर भी भोज ने किस प्रकार इतनी पुस्तकें लिख डाली। अस्तु! यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह एक उच्च कोटि का विद्वान् था और कवियों का आश्रयदाता था। धारा नगरी में उसने एक बड़े शिक्षालय की स्थापना की थी जहां दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। वह कला का प्रेमी था, इसलिए अनेक इमारतें राजधानी में बनवायी थीं। परमार राजा भोज के पश्चात् इस वंश की अवनति हो गयी।

चालुक्य जयसिंह के हाथ में कुछ समय के लिए मालवा की गद्दी आ गयी थी। उस सीमित क्षेत्र में किसी तरह इस वंश का समय व्यतीत होता रहा जब १३०३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने सदा के लिए हिन्दू राज्य का अंत कर दिया।

बंगाल के शासक

जिस समय कन्नौज में प्रतिहार वंश का शासन था बंगाल में पालवंशी नरेश राज्य कर रहे थे। पुराने समय में बंगाल मगध राज्य से सम्बन्धित था पर छठी सदी से बंगाल पृथक राज्य के रुप में आ गया। शशांक वहां का शासक रहा जिसके पश्चात् पाल वंश का ही राज्य उल्लेखनीय है। ८ वीं सदी में इस वंश की संस्थापना गोपाल ने की थी। उसका पुत्र धर्मपाल महान शक्तिशाली राजा था जिसने कन्नौज पर आक्रमण कर चक्रायुध को गद्दी पर बैठाया। उसके बाद वत्सराज प्रतिहार ने उसकी सत्ता को नष्ट कर गुर्जर प्रतिहार राज्य की नींव मजबूत की थी। गंगा की घाटी में धर्मपाल से राष्ट्रकूट ध्रुव की लड़ाई हुई थी जिसके पश्चात् नवीं सदी के आरम्भ में ही उसे राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसके सामंत चक्रायुध से नागभट्ट ने कन्नौज छीन लिया और धर्मपाल का उत्तरी भारत पर साम्राज्य का सपना भंग हो गया। यह पाल नरेश एक बौद्ध राजा होते हुए भी ब्राह्मणों का सहायक था। पालयुग में बुद्ध धर्म को राजाश्रय मिलने पर भी ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय होता रहा। धर्मपाल ने विक्रम शीला नामक महाविहार की स्थापना की थी। उसके उत्तराधिकारी देवपाल के सम्बन्ध में लेखों में प्रशंसा-युक्त वर्णन मिलता है। वह पाल वंश में सब से प्रतापी राजा माना गया है जिसके विजय का बड़ा ही विस्तारपूर्वक विवरण प्रशस्तिकारों ने दिया है। यह विश्वास करना कठिन है कि हिमालय से सेतुबन्ध तक देवपाल का राज्य विस्तृत होगा परन्तु भागलपुर के लेख में उल्लिखित कामरूप तथा उत्कल विजय को सत्य माना जा सकता है। सम्भवतः उसने गुर्जर प्रतिहार भोज को भी हराया था। अस्तु। देवपाल ने समीपवर्ती

प्रांतों पर विजय कर राज्य को बढ़ाया था । नालंदा के ताम्रपत्र के अध्ययन से प्रकट होता है कि उसका सम्बन्ध जावा के राजा से भी था। जावा के राजा बलपुत्रदेव के कहने पर राजगृह तथा गया जिलों में स्थित पांच ग्रामों को बौद्ध मठ को दान में दिया था ताकि भिक्षु आराम का जीवन व्यतीत कर सकें । देवपाल स्वयं बौद्ध होने के कारण मगध में मठ तथा बिहार बनवाया था। नालंद उसके समय में शिक्षा का प्रधान केन्द्र बना रहा । उसके पश्चात् नारायणपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । वह शैवमत का मानने वाला था और शिव के अनेक मंदिर निर्माण कराये थे, इसी के समय से पाल वंश की अवनति होने लगी । मगध तथा उत्तरी बंगाल पाल राज्य सीमा से प्रतिहार राज्य में सम्मिलित कर लिया गया, इसलिए पश्चिम तथा दक्षिणी बंगाल में पाल शासन सीमित हो गया । नारायणपाल भी फिर अपने को सम्भाल सका था परन्तु अवनति का क्रम चलता रहा । महीपाल तथा नयपाल नामक राजाओं के शासन में युद्ध होते रहे। १०२५ ई० के समीप राजेन्द्रचोल ने महाकोशल तथा उड़ीसा हो कर बंगाल तक चढ़ाई की थी। कुछ ही दिनों बाद ही चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने गौड राजा (पाल नरेश) को हराया था। बुरे दिन आने के कारण अधीनस्थ सामंत भी विद्रोही हो गये और स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इस प्रकार की अशांतिमय वातावरण में रामपाल गद्दी पर आया । यही पाल वंश का अंतिम राजा था—जिसने पाल वंश की खोई प्रतिष्ठा को वापस लेने के लिए प्रयत्न किया था। उसका कार्य अस्थायी रहा और रामपाल के पश्चात् पाल वंश की अवनति हो गयी।

उसी समय विजयसेन नामक व्यक्ति ने उत्तरी बंगाल (गौड़) से पाल वंश को सदा के लिए विदा कर सेन वंश की स्थापना की। वह १०९५-११५८ तक सिंहासन पर बैठा रहा । देवपारा के लेख से पता चलता है कि विजयसेन ने पूर्वी बंगाल पर भी राज्य विस्तृत किया था । कई राजाओं से उसकी मुठभेड़ हुई थी । सेन वंश ने

ब्राह्मण धर्म को राजधर्म बनाया और उनके राज्य में पंचदेवों की पूजा होती रही। विजयसेन शैव मत को मानता था और श्रोतिय लोगों को उसने आश्रय दिया था। उसका पुत्र वल्लालसेन का नाम बंगाल में कुलीन प्रथा के समावेश के कारण प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उसने दानसागर तथा अद्भुतसागर नामक पुस्तकों की रचना की थी। पिता के सदृश वह शैव मत का अनुयायी था। सेन वंश का अंतिम प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन (जिसे मुसलमान लेखक राय लखमनिया कहा करते थे) था जिसने समीप के प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। लक्ष्मणसेन की कायरता सर्व प्रसिद्ध है अतः विजय सम्बन्धी उल्लेख पर सभी संदेह कर सकते हैं। ११९७ ई० में जब मुहम्मद विन वखतियार खिलजी बिहार को जीतता हुआ नदिया पहुंचा तो लक्ष्मणसेन खिड़की के रास्ते महल से भाग गया था। यह कायरता तथा सेन शासन के ढीलापन का ही फल था कि अठारह घुड़सवारों के साथ वखतियार ने सेन राजधानी पर अधिकार कर लिया। लक्ष्मणसेन गंगा नदी पार कर पूर्वी बंगाल में चला गया और वहां १२०६ तक जीवित रहा। बंगाल में मंत्रयान तथा काल चक्रयान के प्रचार होने पर भी सेन शासक ब्राह्मण धर्म को मानते रहे। सहजिया मत के अनुरूप वैष्णव सहजिया मत आरम्भ किया गया जिस कारण विष्णु के अवतार की पूजा होती रही और वैष्णव साहित्य की रचना हुई। जयदेव ने गीत गोविन्द लिख कर विष्णु के दस अवतार का प्रचार किया। बौद्ध मत को भी हिन्दू धर्म में मिला लिया गया इसीलिये जयदेव के दस अवतार में बुद्ध का भी नाम आता है।

बंगाल के समीप कामरूप (आसाम) का प्रदेश था जिसके इतिहास पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा है। गुप्त लेखों में दो बार इसका नाम आता है। हर्ष वर्धन के मित्र भास्कर वर्मन का नाम सर्व प्रसिद्ध था। ६४३ ई० में ह्वेनसांग वहां गया था। भास्कर कन्नौज तथा प्रयाग में हर्ष की सभाओं में सम्मिलित हुआ था। उसके उत्तराधिकारी के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। ८ वीं सदी के मध्य में

श्री हर्ष नामक एक राजा शासन करता था। ९ वीं सदी में देवपाल की सेना ने आसाम पर आक्रमण किया था। किसी कारणवश मुसलमान विजेता वहां पहुंच न सके। यह प्रांत बौद्ध तंत्र तथा हिन्दू धर्म का केन्द्र रहा। हिन्दू मत की प्रधानता रही और समस्त जंगली जातियों में भी हिन्दू तंत्र मंत्र का प्रचार रहा।

७ वीं सदी में ही अरब वालों ने भारत पर आक्रमण कर सिन्ध पर अपना कब्जा कर लिया था। उनका शासन मुलतान तक फैल गया और सिन्ध तथा मुल्तान की रियासतें अरब के खलीफा के अधीन समझी जाती रहीं। अरब विजेताओं ने सिन्ध से बाहर पूरब की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया था और पश्चिमी राजपूताने मे हिन्दुओं से युद्ध भी हुए। परन्तु गुर्जर प्रतिहार राजाओं के रहते उनकी एक न चली। प्राय: तीन सौ वर्षों तक सिन्ध तथा मुल्तान के सीमित क्षेत्र से बाहर जा न सके। दसवीं सदी में प्रतिहार महेन्द्रपाल की मृत्यु पश्चात् यानी गुर्जर शासन के ह्रास होने पर शत्रुओं को मौका मिल गया। इतने दिनों तक अरब वाले हिन्दुओं के साथ साथ शांति और स्नेह भाव के साथ रहते थे। राजनीतिक सफलता न होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभाव पड़ा। अरब लेखकों ने वर्णन किया है कि अरब के लोगों ने भारत से धर्म दर्शन, आयुर्वेद, गणित तथा ज्योतिष की बातों को सीखा और उसे पश्चिम में फैलाया था। अमीर खुसरव ने यहां तक लिखा है कि अरब का ज्योतिषी आबू रमशर ने काशी में दस वर्ष तक विद्याभ्यास किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सिन्ध के मुसलमान भारत में इस्लाम रियासत कायम न कर सके। १० वीं सदी के बाद उत्तर पश्चिम से तुर्क लोगों का आक्रमण जारी हुआ। अफगानिस्तान तथा उत्तर पश्चिमी प्रांत में कुषाण लोगों के बाद से ही (पहली सदी के बाद) साही नामधारी राजा शासन करते रहे। ९ वीं सदी तक काबुल उनकी राजधानी थी। कहा जाता है कि उस सदी के मध्य भाग में काबुल के साही राजा लघुतूरमान को ब्राह्मण मंत्री कल्लर

ने गद्दी से उतार दिया । कल्लर ने एक नये साही वंश की स्थापना की जिसे अलबेरूनी ने ब्राह्मण साही का नाम दिया है। इससे पूर्व साही सुल्तान को तुर्की साही कहा गया है। काबुल से राजधानी हटा कर उन्होंने उद्भाण्डपुर में अपना निवासस्थान बनाया। इसी साही वंश ने काबुल की ओर से आने वाले मुसलमानों को रोका था। साही वंश के राजाओं का नाम सिक्कों पर लिखा मिलता है तथा राज तरंगिणी में भी उल्लेख पाया जाता है। उस वंश का पहला राजा सामंतदेव था जिसके बाद ही काश्मीर राजा के प्रभाव में साही नरेश आ गये । दसवीं सदी के मध्य से मुसलमान शासकों ने साही वंश पर बराबर दबाव डालना आरम्भ किया। इस कारण जयपाल नामक साही राजा के शासन में ही अफगानिस्तान साही राज्य से निकल गया और इसने अपनी राजधानी पूरब की ओर भटिन्डा (पटियाला रियासत) में हटा ली । उन दिनों गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन तथा जयपाल से युद्ध होता रहा ।.उसे जयपाल के मुकाबिले में हार खानी पड़ी और अप्रतिष्ठा के साथ सन्धि करनी पड़ी। जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालिंजर तथा कन्नौज के भारतीय राजा को निमंत्रित कर सुबुक्तगीन का सामना किया। उन नरेशों ने धन तथा जन से साही राजा जयपाल की सहायता की थी परन्तु अंत में बुरी तरह से पराजित किये गये । इस हार से सम्भल भी न पाया था कि महमूद ने १००१ ई० में साही राज्य पर आक्रमण किया । इस पराजय से जयपाल इतना निर्जीव हो गया कि अपने पुत्र अनंगपाल को गद्दी सौंप कर वह आग में जल कर मर गया। महमूद का हौसला और भी बढ़ गया था इसलिए नये राजा अनंगपाल को भी शांत न रहने दिया और १००८ में फिर युद्ध छिड़ गया। अनंगपाल ने समकालीन हिन्दू राजाओं का संघ बना कर मुसलमान सुल्तान का सामना किया था परन्तु हिन्दू सेना में राष्ट्रीय भावना का अभाव था, इस कारण संघ भी असफल रहा और महमूद को विजय प्राप्त हुआ। उसके बाद भी साही वंश के शक्तिहीन राजा भारत के

उत्तर पश्चिम द्वार पर मुसलमानों का सामना करते रहे पर सर्वथा असफल रहे। इस्लाम विजेताओं ने भारत में राज्य कायम कर लिया।

साही राज्य सीमा से लगा हुआ काश्मीर का प्रदेश था जहां पर प्राचीन काल से चौदहवीं सदी तक हिन्दू राजा शासन करते रहे। यद्यपि मुसलमान आक्रमणकारियों ने काश्मीर पर चढाई करने का प्रयत्न किया था परन्तु भौगोलिक अवस्था (पर्वतीय देश होने) के कारण काश्मीर की घाटी को जीत न सके। इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास ज्ञात नहीं है लेकिन सातवीं सदी के बाद शासकों के सम्बन्ध में व्हेनसांग तथा राज तरंगिणी द्वारा वर्णन किया गया है। ६३१-६३३ ई० के बीच व्हेनसांग वहां रहा था। काश्मीर नरेश दुलर्भवर्धन से हर्ष की मित्रता थी। ८ वीं सदी में ललितादित्य मुक्तापीड़ नामक व्यक्ति करकोट वंश का प्रथम शासक काश्मीर घाटी में शांतिपूर्वक राज्य करता रहा। उसी ने उत्तरी भारत तथा वंक्षु तक के राजाओं को दिग्विजय यात्रा में परास्त किया था। कहा जाता है कि उसने गौड़ तक चढ़ाई की थी परन्तु दिग्विजय का वर्णन अतिशयोक्ति से खाली नहीं है। सम्भवतः उसने पंजाब तथा काश्मीर के उत्तरी भाग को राज्य में मिला लिया था। ललितादित्य के पौत्र जयापीड़ विनयादित्य भी एक प्रभावशाली राजा था जिसने कन्नौज के शासक को हराया था। ८५५ ई० में उस वंश के स्थान पर उत्पल वंश का अधिकार हो गया और प्रतापी शासक अवन्ति वर्मन के शासन में विद्रोही-डाभर शांत किए गए थे। सूर्य नामक इंजिनियर की सहायता से सिंचाई का सुन्दर प्रबन्ध किया गया जिसने बाढ़ को रोकने के लिए झेलम के बहाव को दूसरी ओर मोड़ दिया था। अवन्ति वर्मन ने अनेक भव्य मंदिर तैयार कराया और ब्राह्मणों को दान दिया था। उसके पश्चात् काश्मीर की स्थिति खराब हो गयी पर किसी तरह उसके पुत्र शंकर वर्मन को गद्दी मिली। वह युद्ध में इतना फंसा रहा कि सैनिक व्यय

के कारण खजाना खाली हो गया। राजा ने मंदिरों के धन को लूट कर तथा धार्मिक कार्यों पर कर लगा कर खजाने की कमी को पूरी की थी। शंकर वर्मन की तरह उसके उत्तराधिकारी भी शासन के लिए अयोग्य निकले। वे सदा अपने भोग विलास में फंसे रहते और अनगिनत प्रजा भूख तथा दारिद्र के कारण नष्ट हो रही थी। दसवीं सदी के मध्य में देश की दशा सुधारने के लिए ब्राह्मणों ने गोपाल वर्मन (उत्पल नरेश) के मंत्री के पुत्र यशःकर को सिंहासन पर बैठाया। उसने नव वर्ष की अवधि में ही देश में सुख और शांति पुनः विराजमान हो गयी। उस वंश का राज्य अधिक समय तक रह न सका। लोहर वंश ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उस राजवंश में दिद्दा तथा उसके पति क्षेमगुप्त का नाम विशेष, उल्लेखनीय है। दिद्दा का नाम काश्मीर के इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने स्त्री होकर विरोधियों को दबाया और बलपूर्वक राज्य करती रही। १००३ ई० में दिद्दा के मरने पर संग्राम राज को राज्य का भार उठाना पड़ा। १०१४ ई० में महमूद के विरोध में काश्मीर की ओर से भी त्रिलोचन साही को सहायता पहुंचायी गयी थी। सुल्तान ने काश्मीर घाटी में आक्रमण किया था लेकिन उसे भौगोलिक परिस्थितियों के कारण वापस लौटना पड़ा। उस समय के पश्चात् काश्मीर का इतिहास कलंकमय है। राजा ने मुसलमान सेनापति की सहायता से मंदिरों को लूटा तथा मूर्तियों को अपवित्र किया था। इस तरह अराजकता बनी रही जब काश्मीर चौदहवीं सदी में मुसलमान आक्रमणकारी के हाथ में चला गया।

यह कई बार कहा जा चुका है कि १० वीं सदी के बाद जगह जगह छोटे राज्य उत्पन्न हो गये। आबू पर्वत पर उत्पन्न अग्निकुल के चार वंशों (सोलंकी—चालुक्य, परिहार-प्रतिहार पवर परमार तथा चौहान) में दिल्ली अजमेर प्रांतों में राज्य करने वाले चहमान राजा के विषय में थोड़ा कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व-

प्रथम नर्वदा किनारे महिषमति इनकी प्रधान नगरी थी परन्तु ११ वीं सदी में इस वंश की एक शाखा ने अजमेर में राज्य स्थापित किया। यही इतिहास में चौहान वंश के नाम से प्रसिद्ध था। तोमर अनंगपाल से दिल्ली का प्रदेश पाकर इनका राज्य अजमेर से दिल्ली तक फैल गया। ११५३ ई० में विग्रह राज चतुर्थ विशलदेव ने राज्य की सीमा को बढ़ाया था। चौहान वंश का सर्व प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज तृतीय था जिसे मुसलमान लेखक राय पिथौरा कहते हैं। यह ऐसा बहादुर शासक था जिसके सम्बन्ध में आज भी भाट अनेक गीत (पद्य) सुनाया करते हैं। पृथ्वीराज तीसरे को अपने थोड़े दिनों की अवधि में गहड़वाल, चंदेल तथा चालक्य राजाओं से युद्ध करना पड़ा था। कन्नौज के राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को स्वयंम्बर से उठा लाया और परमर्दि राजा पर आक्रमण कर महोबा तथा बुँदेलखण्ड के किलों पर अधिकार कर लिया था। इसी युद्ध का वर्णन चारण लोगों ने आल्हा नामक ग्रंथ में किया है। पृथ्वीराज ही भारत का अंतिम राजपूत राजा था जिसके बाद मुसलमान सुल्तान मुहम्मद बिन साम का पैर जम गया। ११९१ ई० शाहबुद्दीन गोरी से पृथ्वीराज की पहली लड़ाई हुई जिसमें मुसलमान सेना को गहरी हार खानी पड़ी। शहाबुद्दीन को इस पराजय का बड़ा दुख था। इसलिए दूसरे साल ही (११९२ ई०) वह भारत को लौटा और सुसंगठित सेना के साथ बदला लेने की ठानी। पृथ्वी-राज ने समीप के शासकों से सहायता की याचना की। जयचन्द्र के अतिरिक्त प्रायः सभी राजाओं ने चौहान राजा को पूर्ण सहयोग प्रदान किया था परन्तु हिन्दू सैनिक मुसलमानों के सामने ठहर न न सके। पृथ्वीराज के पैर उखड़ गए और वह जीवन बचाने के लिए युद्ध क्षेत्र से भाग गया। मुसलमानों ने सरस्वती नदी के किनारे उसे पकड़ कर मार डाला। यही समय था जब उत्तर भारत में मुसलमानों का आधिपत्य फैल गया और हिन्दू प्रभाव सदा के लिए मिट गया। जयचन्द्र का उत्तरी भारत पर साम्राज्य कायम करने

का स्वप्न भंग हो गया तथा अदूरदर्शिता का फल शीघ्र ही मिल गया। ११९४ ई० में शहाबुद्दीन ने कन्नौज को विजय कर जयचन्द्र को मार डाला ।

इस प्रकार १२ वीं सदी के अंत में हिन्दू शासन का अंत हो गया। जो राज्य ईसा पूर्व सदियों से चला आ रहा था और जिसके शासकों ने भारतीय समाज में विदेशियों को आत्मसात् कर लिया वही हिन्दू नरेश राष्टीय भावना के अभाव से राज्य खो बैठे । सेना में शक्ति के अतिरिक्त देश प्रेम की कमी थी और अनेक उपजातियों में विभक्त हो जाने के कारण सामूहिक धेय से काम न कर सके। पाल तथा गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने साम्राज्य स्थापना की ऊच्च विचार से कार्य किया था परन्तु परिस्थितियों ने उसे पूरा न होने दिया । धर्म भीरुता भी राजपूतों के असफल होने का एक विशेष कारण था।

संसार में भारत एक प्राचीनतम देश है । यह प्राचीन समय में उन्नति के शिखर पर पहुंच गया था। सभी कार्य उचित प्रकार से किए जाते। प्रत्येक क्षेत्र में शास्त्रीय बातों का पालन किया जाता। इतने बड़े महान देश में शासन सम्बन्धी कार्य भी आदर्श प्रणाली पर सम्पादित किया जाता था। भारतीय साहित्य के आधार पर शासन-प्रबंध का ज्ञान होता है । जिस देश में या भूभाग में जनता निवास करती है, वहां पर उसके सारे कार्यभार को संभालने के लिए किसी प्रकार के शासक (राजा) की आवश्यकता होती है। वर्तमान राजनीतिज्ञ उसी भूभाग को राष्ट्र कहते हैं। पर भारत में कोई ऐसा नियम न था। अथर्ववेद में लिखा है कि प्रारम्भ में सम जनपद (राष्ट्र) बिना राजा के ही रहता था [विण्ड् वा इदाग्र आसीत्] राजा की आवश्यकता लोगों को न मालूम हुई। महाभारत के शान्तिप्रर्व में भी ऐसी ही वर्णन मिलता है कि जनता बिना राजा के अपना काम करती थी। धर्म ही सब प्रजा का रक्षक था

नैव राज्यन्नराजासीन्नच दण्डो न दाण्डिक:
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ।

इस प्रकार ऋषियों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि वर्तमान समय की तरह भारतीय समाज में झगड़े व कलह न थे । सब लोग धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे । पर यह सिद्धान्त सदा के लिए माना न जा सका । कुछ समय के पश्चात् समाज का ऐसा संगठन हो गया कि शासक की आवश्यकता मालूम होने लगी। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि देवासुर संग्राम में देवता हार गए। सब ने इसके कारण पर विचार किया तो यही समझ में आया कि असुरों का राजा था और देवताओं का कोई शासक न था। ऐसे समय में देवताओं के अंश को लेकर राजा की उत्पत्ति हुई। मनु के शब्दों में परमेश्वर ने राजा की उत्पत्ति की। ऐतरेय ब्राह्मण में जनता द्वारा राजा के चुने जाने का वर्णन किया गया है। भीष्म ने भी युधिष्ठिर से कहा कि अराजकता में सब चीजें नष्ट हो जातीं हैं। अतएव लोगों ने दुःखी होकर राजा का चुनाव किया। कौटिल्य ने भी इसी बात का पृष्ठपोषण किया है कि—प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। ये कथन बतलाते हैं कि सर्वप्रथम मनु ही आदि राजा था। इन सब के विवेचन से यह विवाद खड़ा हो जाता है कि ईश्वर द्वारा राजा की सृष्टि हुई अथवा वह प्रजा द्वारा चुना गया । मनु आदि शास्त्रकारों की बातें आलंकारिक हैं । वस्तुत: ईश्वर ने किसी को राजा न बनाया । प्रजा ने ऊंचे कर्मों (देवकर्मों) की आवश्यकता समझ कर राजा के देवांश होने की कल्पना की। यही कारण है कि राजा को ईश्वर माना जाता था और उसके दर्शन से पुण्य की बात सोची जाती थी । राजा के विषय में वेद तथा रामायण में 'राजकर्त्तार' शब्द आता है जिससें साफ तौर पर यह बात सत्य मालूम होती है कि राजा बनाए जाते थे । ईश्वर द्वारा उनकी सृष्टि नहीं हुई बल्कि उनको मनुष्य चुनते थे । भारतीय इतिहास ऐसे प्रमाणों से भरा पड़ा है ।

राष्ट्र से राजा होता है । इसलिए राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए राजा को सब तरह की सहायता दी जाती है । कौटिल्य ने कहा है कि 'कोशदण्डबलं हि प्रभुशक्तिः ।' कार्यभार चलाने के लिए बल की परम आवश्यकता है । सात प्रकृतियां उस राजा के अवयव मानी गयी हैं—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डो सुहृत्तथा
सप्तप्रकृतयो स्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते (मनु०)

राजा, मंत्री, दुर्ग (राजधानी में), कोश, दण्ड वा बल, मित्र तथा राष्ट्ररूपी सातों अंगों से शासक का शरीर बनता है । चतुर राजा सब को मिला कर काम करता है । मूर्खता से तो अंग नष्ट हो जायंगे और शासन-प्रबंध चल नहीं सकता।

शास्त्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में शासन-कार्य दो प्रकार से होता था । पहली प्रणाली का प्रजातंत्र नाम दिया जा सकता है । यद्यपि यह शब्द प्रयोग में नहीं आता तो भी शासन के ढंग से यह स्पष्ट है कि वह प्रजातंत्र के अतिरिक्त और कोई तरीका नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राह्मण में जो राजनीति का वर्णन मिलता है उसमें प्रजातंत्र की ही भावना है । महाभारत में 'सदृशः सर्वे जात्या कुलेन' का उल्लेख मिलता है तथा प्रजातंत्र के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग किया गया है । शांतिपर्व में गण-राज्य शासन प्रणाली का सविस्तृत वर्णन मिलता है। ईसा से कोई शताब्दियाँ पूर्व से भारत में गणराज्य की प्रधानता थी। बौद्ध साहित्य के सोलह महाजन पदों में शाक्य, बृज्जि मल्ल आदि प्रजातंत्र रियासतें वर्तमान थीं। कौटिल्य ने 'गण' शब्द के द्वारा प्रजातंत्र ढंग का ही विवेचन किया है । कहने का अर्थ यह है कि प्रजातंत्र की कल्पना बाहरी नहीं है, पर भारतीय है। साहित्य में प्रजातंत्र के साथ साथ राजा, नृप आदि शब्दों का प्रयोग दूसरे प्रकार के शासनकर्ता के लिए किया जाता था। यानी राजतंत्र की भी सत्ता यहां पुराने समय से

थी। ब्राह्मण ग्रथों में राजपुत्र शब्द इस बात को साफ तौर से बतलाता ह कि उस काल में वंश परम्परानुगत शासन राजा के हाथ में था। पिता के मरने पर पुत्र को सिहासन अवश्य मिलता था। राजसूय यज्ञ भी यही साधारणतया बतलाता है कि राजतंत्र शासन में राजा शक्तिशाली व्यक्ति था। पर एक व्यक्ति के हाथ में प्रबंध न रक्खा जाय, इसीलिए उसके सहायक रहते थे। तैत्तरीय संहिता में राजा के सहायक 'रत्निन' का नाम मिलता है। ये सदा राजा के समीप रह कर शासन में सहयोग करते थे। इतना होते हुए भी राजा मनमानी नहीं कर सकता था। जिस समय उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी स्थिर करना होता था वह राज्य के प्रमुख व्यक्तियों को बुला कर पूछ लेता था कि अमुक व्यक्ति के राजकुमार घोषित होने में आप लोगों को कोई आपत्ति तो नहीं है। रामायण में वर्णन आता है कि चक्रवर्ती राजा दशरथ ने भी राम ऐसे महान् पुरुष को युवराज बनाते समय सब प्रधान व्यक्तियों से पूछा था। यथा राजा तथा प्रजा। दशरथ की प्रार्थना को सबों ने स्वीकार कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा की सत्ता ईश्वरकृत (Divine right) नहीं समझी जाती थी। राजा को भी सिंहासन पर बैठाने का अधिकार प्रजा के हाथ में रहता था। जनता हरएक प्रकार से शक्तिशाली थी। प्रजातंत्र पूर्ण रूप से तथा राजतंत्र साधारण रूप में प्रजा के हाथों बनाया जाता था। प्रजातंत्र में शासक का चुनाव होता जो अधिक संख्या में मत ग्रहण कर राजसभा का सभापति चुना जाता था। अथर्ववेद में वर्णन आता है कि ऐ राजा, राज्य का काम चलाने के लिए प्रजा तुझे निर्वाचित करे (त्वां विशो वृणातां राज्याय स्वामिना:)। ऐसे और मंत्र हैं जो राज्याभिषेक के समय उपदेश के रूप में कहे जाते थे। "ऐ राजा, हम तुझे लाए हैं; सब प्रजा तेरी इच्छा करे।" शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है कि जब प्रजाजन राजा से संतुष्ट होते हैं तो राजसूय का अनुमोदन करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कई पीढ़ियों के लिए राजा

निर्वाचित किए जाने लगे । इस प्रकार राजतंत्र की सत्ता बढ़ने लगी ।

भारतीय इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ईसा के छः सदी पूर्व से चौथी सदी तक प्रजातत्र शासन का वैभवकाल था। इस समय अनेक शक्तिशाली तथा प्रतापी प्रजातत्र रियासतें वर्तमान थी। ग्रीक ऐतिहासिकों ने बहुत प्रजातंत्रों का वर्णन किया है। पंजाब में स्थित प्रजातंत्रों ने यूनानी सिकन्दर महान् के आक्रमण को रोका था। मौर्य शासन के प्रारम्भ से साम्राज्य की कल्पना राजनीति में आयी। इसीलिए प्रजातंत्रों का ह्रास होने लगा। पंजाब, राजपूताना, मध्य भारत, उत्तरी तराई भाग, मालवा प्रात में इनका केन्द्र था। उज्जैन के क्षत्रप रुद्रदामन के एक लेख में इनके कुछ नाम मिलते है, यानी ईसा की पहली सदी तक इनका शासन था। कुषाण वंश के नाश करने में प्रजातंत्रों का विशेष हाथ था । गुजरात, नासिक, मध्य-भारत, मथुरा तथा पुरुषपुर (पेशावर) का वृताकार भाग शक और कुषाण लोगों के हाथ में रहा। कनिष्क के बाद उन्हें निर्बल पाकर गण शासकों ने उससे लाभ उठाया और जोर लगा कर कुषाणों का नाश कर दिया । यही कारण था कि योधेय गण के सिक्कों पर 'यौधेय गणस्य जय' तथा मालवा सिक्कों पर 'मालवानां जयः' लिखा मिलता है। गण सिक्कों के प्रचार के कारण उपरियुक्त कथन की पुष्टि होती है । गुप्तकाल में प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के सिलसिले में बचे हुए प्रजातंत्रों का नाश कर दिया तथा सब को अपने राज्य में मिला लिया । प्रयाग के लेख में उन पराजित राज्यों का नाम मिलता है । अतएव लेखों के आधार पर यह प्रकट होता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी तक प्रजातंत्र शासन भारत में सुचारु रूप से चल रहा था। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त को ही इनका नष्ट करने वाला बतलाते हैं ।इसके बाद उनका नाम तक न रहा और महत्वाकांक्षी नरेश ने उनकी रियासतें अपने साम्राज्य में मिला लीं।

वर्तमान प्रजातंत्र की तरह भारत में भी उन रियासतों के सभापति का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता था। उसकी सहायता करने के लिए एक सभा रहती थी जिसमें अनुभवी व्यक्ति रक्खे जाते थे। उन्हीं की सहायता से शासन-प्रबंध का कार्य चलता था। राजा के सहायतार्थ भी समिति रहती थी जिसमें समस्त विभाग के अध्यक्ष सम्मिलित रहते। वह कभी मंत्री परिषद के नाम से भी पुकारी जाती थी। मंत्रीगण राज-कार्य-भार संभालने में राजा का सहयोग करते। अन्य कार्य एक सा होता था। राज्य की रक्षा, आय-व्यय, सेना आदि के सभी काम महत्वपूर्ण थे। इन कामों में दोनों प्रकार के शासक यथोचित ध्यान दिया करते थे। राजा का कर्तव्य था कि वह सदा प्रजा हित पर ध्यान दे। शांतिपर्व में शासक का यह परम कर्तव्य माना गया है कि अपने स्वार्थ की बातों को छोड़ कर प्रजाहित का चिंतन करे—

स्वप्रियं च परित्यज्य यद्यलोकहितं भवेत्।

इसके अतिरिक्त यदि राजा शब्द पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि राजा तो प्रकृति (प्रजा के रंजन के लिए बनाया ही गया था। यानी प्रजा का सुख पहले मुख्य बात समझी जाती थी। राजा का निजी कार्य गौड़ समझा जाता था।

स्मृति ग्रन्थों में राजा के आदर्श मार्ग का सविस्तृत वर्णन मिलता है। राजधर्म का मूलमंत्र साधु की रक्षा तथा असाधु का दमन करना है। चूंकि एक व्यक्ति सारे राज्य के काम को सुचारु रूप से नहीं कर सकता, इसलिए राजा का कर्तव्य था कि अच्छे मंत्री नियुक्त करे और उनके परामर्श से कार्य करे। मंत्री से सलाह लेने का इतना महत्व था कि उनके बिना राजा को दुर्योधन की तरह नष्ट हो जाने का डर बना रहता था।

यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणाम्

स शीघ्र नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः।

इस कारण मंत्री राजा का दूसरा हृदय माना जाता था।

नीतिकुशल मंत्री भी राजा को साम, दाम, दण्ड तथा भेद के प्रयोग का अवसर बतलाया करता था । शुक्राचार्य ने बतलाया है कि जिन मंत्रियों से राजा, प्रजा, बल, कोश और वैभव कीवृद्धि न हो वे किसी कार्य के व्यक्ति नही हैं, उन्हें आलंकारिक अथवा अनावश्यक समझा जाय। तात्पर्य यह है कि राजा मन्त्रिपरिषद् के द्वारा राज्य के सभी कामों में उन्नति करे, देश मे सुख व शांति हो और वैभव की अभिवृद्धि करे। इस प्रकार के राजा भारत मे आदर्श मार्ग पर चलते आए हैं। जितने सम्राट् थे सब ने राज्य की श्रीवृद्धि ही की ।

शास्त्रकारों ने राज्य के सुप्रबध के लिए धन की आवश्यकता बतलाई है । कामन्दक नीतिकार ने तो लिखा है कि कोश ही राजा का मूल सार वस्तु है ।

कोशमूलोहि राजेति प्रवादः सर्वलौकिकः ।

अतएव खजाने को पूरा करने के लिए यह जरूरी है कि राजा प्रजा पर कर लगावे। धर्मग्रंथों में भी ऐसा विधान पाया जाता है (तथाल्पाल्पो ग्रहितव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः)। राजा जनता से थोड़ा थोड़ा कर ग्रहण करे। उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि प्रजा पर बोझ न मालूम पड़े । माली की तरह धीरे धीरे पुष्प (कर) चुनता रहे (पुष्पं पुष्पं विचिनुयान्मूलच्छेदं न कारयेत्)। इस प्रकार कर किसी को दण्ड नहीं मालूम पड़ता था । प्रजा नकद रुपया अथवा धान्य के रूप मे कर दिया करती थी । कालिदास ने वर्णन किया है कि राजा जो कर वसूल करता था वह प्रजा के हित के लिए व्यय करता था—

प्रजानामेव भूत्यर्थं सताभ्यो बलिमग्रहीत् (रघुवंश)

यानी राजा उस द्रव्य (कर) का रक्षक था । उसी पैसे से मंत्रि-परिषद् का खर्च तथा निजी खर्च चलाता था । रक्षा के लिए सेना रक्खी जाती थी तथा प्रजा के सब कार्य सम्पादित किए जाते। राजा कृषि की उन्नति के लिए नहरें व तालाब खुदवाता था ।

कहने का सार यह है कि प्रजा से वसूल किए हुए कर को राजा उन्हीं के सुख के लिए नाना प्रकार से खर्च करता था।

प्राचीन साहित्य में राजा के लिए सम्राट्, महाराजाधिराज या चक्रवर्ती की पदवी मिलती है। पुराने समय से गुप्तकाल तक (छठी सदी तक) यह पदवियां उत्कीर्ण लेखों में मिलती हैं; परन्तु पूर्व मध्य काल के (सातवी से बारहवीं शताब्दियों तक) लेखों तथा ताम्र-पत्रों में परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की लम्बी पदवी मिलती है। प्रायः प्रतिहार गहडवाल तथा पाल वंशी लेखों में ऐसी ही पदवी मिलती है लेकिन बंगाल के सेन लेख (१२ वीं सदी) में राजा के लिए उसके साथ हयपति, गजपति तथा नरपति शब्दों का उल्लेख आता है। ऐसी लम्बी पदवी का कोई सार नहीं दिखलाई पड़ता। उनके विषय में कोई वास्तविक बात कही नहीं जा सकती। उसको जान कर ही संतोष करना पड़ता है। राजा की सहायता करने के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से ही एक सभा का वर्णन मिलता है जिसे वेदों में 'समिति' कहा गया है। सभा तथा समिति के विषय में यथार्थ रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता; पर सम्भव है कि कुछ राज्यों में उनका सम्बन्ध राजा से था। उनके विषय में विद्वानों में मतभेद है, लेकिन यह सत्य है कि किसी प्रकार की व्यवस्थापिका सभा थी जो गण राज्यों में भी केन्द्रीय लोक सभा का काम करती थी। नृपतंत्र में वे क्यों विलुप्त हो गयीं यह बतलाना कठिन है।

भारत में साम्राज्य की स्थापना के बाद राजप्रबंध में सहायता के लिए मंत्रिमंडल का समावेश किया गया। मनु का कथन है कि अच्छा कार्य भी एक आदमी के अकेले होने के कारण दुष्कर हो जाता है 'अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्' (मनु) इस कारण राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा योग्य मंत्रियों को चुने-अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है। वैदिककाल में राज्य के उच्च अधिकारियों को रत्नी कहा गया है। उसमें पट्टरानी, युवराज,

पुरोहित, सेनानी सूत, ग्रामणी तथा संग्रहीता आदि के नाम मिलते हैं। रत्नी को ही आगे चल कर मंत्रिपरिषद् कहा गया है। राज्य के सात अंगों में मंत्रियों का स्थान मुख्य था। ऐतिहासिक काल से प्रायः राज्यों में यह संस्था काम करती रही है। जातकों में मंत्रियों का उल्लेख बार बार आता है। उत्कीर्ण लेखों तथा साहित्य में मौर्य तथा शुंगों के मंत्रिपरिषद् का वर्णन है। गुप्त राजाओं के लेखों में मंत्रियों के नाम आते हैं। मंत्रियों ने ही हर्ष को मौखरि राज्य का सिंहासन प्रदान किया था। मध्ययुग के शासन का तो मंत्रिमण्डल अविच्छेद्य अंग था। परमार, चालुक्य, गहड़वाल, चंदेल, पालवंशी लेखों में अनेक मंत्रियों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें पृथक् पृथक् विभाग की जिम्मेदारी थी। राजा के अपनी राज्य सीमा के समीप सामंत या महासामंत भी शासन करते थे जो उसके अधीन माने जाते थे। सुशासन के लिए मंत्रियों का होना आवश्यक था। मंत्रिमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में शास्त्र ग्रंथों में विभिन्न मत पाया जाता है। उन लोगों के विचार में २०, १६, १२, १० या ८ मंत्रिगण होना चाहिए। उन मंत्रियों के कार्य क्षेत्र में शासन का सभी प्रबंध आ जाता था। उनका कार्य नयी नीति का निर्धारण करना, उसे सफलता पूर्वक कार्यान्वित करना तथा कठिनाइयों को दूर करना था। राज्य के आय-व्यय का भी निरीक्षण मंत्रिगण किया करते थे।

केन्द्रीय शासन

उन सभी को मिलाकर केन्द्रीय शासन का कार्य सरलता से होता था। यह कहा जा चुका है कि राजा की पट्टरानी तथा युवराज का शासन प्रबन्ध में हाथ रहता था। शासक उनकी बातों का भी मूल्य रखता था और उन पर विचार किया करता था। पुराने समय से लेकर १२ वीं शती तक इन दोनों के नाम ग्रंथों तथा लेखों में मिलते हैं। मध्यकालीन लेखों के अध्ययन से पता लगता है कि योग्य पुत्र को ही राजा युवराज घोषित किया करता

था। दूसरा नाम पुरोहित का मिलता है, जो वैदिक रत्नी में स्थान पा चुका था; लेकिन मंत्रिमंडल का यह सदस्य न था। यों तो इसका नाम गहड़वाल लेखों में भी मिलता है; परन्तु सदा इसका कार्य धार्मिक कार्यों का निरीक्षण ही था। मौर्य राजा अशोक के लेखों में धर्ममहामात्र का उल्लेख मिलता है, जो सभी धार्मिक प्रबन्ध देखता था। मध्यकालीन लेखों में पुरोहित, धर्माध्यक्ष या धर्म प्रधान नामों से पता चलता है कि राज्य के धार्मिक कार्य निरीक्षण के निमित्त एक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था। इस कार्य में सभी धर्मों को बराबर सहायता दी जाती थी। हिन्दू, जैन तथा बौद्ध लोगों में भेदभाव न रक्खा जाता था। अशोक के लेखों में ब्राह्मण तथा अन्य मतावलम्बियों को सादर स्थान दिया जाता था। सहानुभूति रक्खी जाती थी। अशोक बौद्ध हो कर भी आजीविकों को दान दिया करता था। गुप्त राजाओं ने भी इसी तरह का बर्ताव जैन तथा बौद्धों के साथ किया था। वे विष्णु-भक्त थे, तो भी परम सहिष्णु थे और जैन मंदिरों तथा बौद्ध बिहारों को दान दिया करते थे। मध्ययुग में भी वही अवस्था रही। पाल नरेशों ने बौद्ध होकर ब्राह्मणों को अच्छे पद पर नियुक्त किया था। दान विद्वान्, बिहार, मठ, मंदिर तथा शिक्षा संस्थाओं को दिया जाता था। मध्ययुग की एक विशेषता यह थी कि व्यक्ति के स्थान पर संस्था को दान देने की परिपाटी चल निकली, जिस कारण विशेष अधिकारी नियुक्त थे। लेखों में उसे आग्रहारिक कहा जाता था। इन रीतियों से केन्द्र में धर्म-कार्य सम्पन्न किया जाता था।

मंत्रिपरिषद् का सब से महत्त्वपूर्ण व्यक्ति प्रधानमंत्री था। लेखों में अनेक मंत्रियों के नाम मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल में इसकी आवश्यकता समझ कर एक मंत्री प्रधान घोषित कर दिया जाता था, जिसके जिम्मे शासन का एक विभाग रहता था। कहीं कहीं वह कोष का भी निरीक्षण करता था। प्रधान मंत्री के बाद युद्धमंत्री का स्थान था। जिसे सेनापति कहा जाता था।

गुप्तकाल से १२ वीं सदी तक के लेखों में उसे बलाधिकृत या महाबलाधिकृत कहा गया है। उसका काम सेना का संगठन, दुर्ग की सुरक्षा तथा युद्ध सम्बन्धी अन्य कार्यों की व्यवस्था थी। सेना के पांच विभाग थे—पैदल, घुड़सवार, गजदल, रथदल तथा जल सेना। इन विभागों के पृथक् पृथक् प्रधान थे। अश्वपति या भटाश्वपति घोड़ों की देख रेख किया करता था। हस्त्यध्यक्ष (जिसे महा पीलुपति भी कहते थे) तथा रथाधिपति क्रमशः हाथी और रथ विभाग का प्रबन्ध करते थे। सेना की रसद को एकत्रित करने के लिए रण भाण्डागारिक नामक अधिकारी होता था। आयुधगाराध्यक्ष अस्त्रशस्त्रों की देखभाल किया करता था। कोटपाल प्रत्येक किले में नियुक्त थे। राजकीय आय का ५० प्रतिशत धन सेनाविभाग में व्यय किया जाता था। मध्यकालीन लेखों में नौबल शब्द का प्रयोग मिलता है। जिसके अधीन जलसेना रहती थी। गौमिक शब्द सेना के एक टुकड़ी के पदाधिकारी के लिए प्रयुक्त किया जाता था। गण शब्द तीन टुकड़ी की सम्मिलित सेना को कहते थे। इस तरह सेना विभाग में विभिन्न अधिकारियों द्वारा सब कार्य होता था।

मध्यकालीन शासक स्वयं सेना में दिलचस्पी लेते थे। विदेशी लेखकों ने सेना के विषय में यत्र तत्र लिखा भी है। कन्नौज के राजा प्रतिहार के पास ९ लाख सेना थी। लड़ाई में युद्ध कौशल दिखलाने वाले व्यक्ति को तगमा दिया जाता था या मरे व्यक्ति के परिवार को मासिक वृत्ति (जिसे मृत्यु वृत्ति कहते थे) मिलती थी। इस तरह युद्ध में लडने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। युद्ध में चिकित्सा दल तथा मार्ग बनाने के लिए सैनिक भी रहा करते थे। प्राचीन समय में नौसेना भी प्रबल थी।

सेनापति के बाद परराष्ट्र मंत्री का स्थान था। लेखों में उसे महासंधिविग्रहिक कहा गया है।

परराष्ट्र विभाग अनेक राज्य होने के कारण परराष्ट्र मंत्री

का कार्य कठिन होता था। मौर्य, गुप्त, राष्ट्रकूट तथा गुर्जर प्रतिहार ऐसे बड़े बड़े साम्राज्यों में परराष्ट्र मंत्री के अधीन अनेक सचिव थे। गहड़वाल तथा पाल वंशी लेखों में इस विभाग के दूत नामक अधिकारी का नाम आता है। वह गुप्तचर का काम करता था। इसके अन्तर्गत महामुद्राध्यक्ष का एक उपविभाग था जो राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमति-पत्र देता था। परराष्ट्र मंत्री शाम दाम दण्ड भेद की नीति से काम करता था।

राज्य का सारा प्रबन्ध कोष के बल पर चलता है। राज्य की सारी आय कोषाध्यक्ष के जिम्मे थी और एक ही व्यवित कर वसूल करने का काम भी करता रहा। कौटिल्य ने उसे समाहर्ता कहा है। सरकारी भूमि के सम्बन्ध में अनेक कर्मचारी उसके अधीन काम करते थे। सीमाध्यक्ष खेती का काम देखता तो गोध्यक्ष नामक पदाधिकारी पशु धन (गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी के झुण्ड) का जिम्मेदार था। पशुओं के चरने के लिए जंगल में चरागाह सुरक्षित रहता था। भूमि कर आय का छठां भाग होता था, जिसका षष्ठांश वर्णन स्मृतियों तथा लेखों में मिलता है। पाल राजा धर्मपाल के राज्य में षष्टाधिकृत (छठें भाग का ग्रहण करने वाला) नामक कर्मचारी लगान वसूल किया करता था। भूमि सम्बन्धी कागज-पत्र को सुरक्षित रखने के लिए महाक्षपटलिक नामक कर्मचारी नियुक्त था जिसके जिम्मे राज्य की सारी भूमि का लेखा था। कृषि योग्य भूमि तथा खानों का आय व्यौरा वह अपने पास रखता था। राज्य कर विभाग के अन्तर्गत कई व्यक्ति सीमा भूमि के झगड़े को देखने के लिए नियुक्त थे, जिन्हें विभिन्न काल में विभिन्न नाम दिया गया था। सीमाकर्मकर प्रमातृ या सीमा प्रदाता कहा जाता था। भूमि दान तथा अग्रहार के ताम्र-पत्रों को अधिक समय तक सुरक्षित रक्खा जाता था। वे भूमि बदलने के समय मांगे जाते थे। उन पत्रों पर राजा के हस्ताक्षर मिलते हैं।

माल विभाग

वाणिज्य विभाग

पुराने समय में उद्योग तथा व्यवसाय के क्षेत्र में व्यापारिक वर्ग काम करता था, जिसे श्रेणी कहा जाता था। व्यापार पूंजीपतियों के हाथ में न था, इस कारण राजा की ओर से व्यापारिक उन्नति के लिए पृथक् विभाग रहता था। वस्त्र उत्पादन का कार्य सब से बड़ा था। वस्त्र दूर दूर के देशों में भेजा जाता था। ग्राम के अन्न को बेचने के लिए बाजार लगाये जाते थे, जिसकी निगरानी हट्टपति पदाधिकारी करता था। नगरों तथा ग्रामों में जो माल बिकता था उस पर चुंगी लगती थी। ९ वीं तथा दसवीं सदी के लेखों में इस कार्य के अफसर का नाम शौल्किक मिलता है। यह क्रय विक्रय की चीजों का मूल्य भी निर्धारित करता था; पर इसके लिए निश्चित प्रमाण नहीं हैं। उपयोगी चीजों की व्यवस्था तथा निर्यात वस्तुओं का प्रबन्ध उस कर्मचारी के सुपुर्द था। खान से धातु (लोहा सोना) तथा नमक निकाला जाता था, जिस पर राज्य की ओर से चुंगी लगती थी।

न्याय विभाग

प्राचीन भारत में राजा ही सब से बड़ा न्याय करने वाला व्यक्ति था, जिसके पास छोटे न्यायालयों से अपील की जाती थी। प्रधान जज को प्राड्विवाक कहा जाता था। इस विभाग में सरकार की नीति विकेन्द्रीकरण की थी, इस कारण नगरों तथा ग्राम पंचायतों में मुकदमे देखे जाते थे। इनका वर्णन अगली पंक्तियों में किया जायगा। कुछ लेखों में जज के लिए धर्माध्यक्ष या धर्मलेखी शब्दों का प्रयोग मिलता है। फौजदारी तथा माल दोनों तरह के मुकदमे देखने के लिए अलग अलग न्यायालय थे। स्मृतियों या लेखों में जेल का वर्णन बहुत कम मिलता था, जिसका कारण यह था कि कारावास की सजा कम दी जाती थी। आर्थिक दण्ड ही पर्याप्त समझा जाता रहा। प्रमाणं लिखितं भुक्ति साक्षिणः (प्रमाण में लेख्य तथा गवाही) की बात याज्ञवल्क्य ने लिखी है। मुकदमों में प्रमाण

की भी आवश्यकता रहती थी। लिखित प्रमाण, साक्षी या दिव्य की सहायता से मुकदमे फैसल किए जाते थे। जुर्माना प्राप्त दण्ड माना जाता था तथा राजा की आज्ञा ही अंतिम निर्णय था।

पुलिस विभाग

देश की आन्तरिक शांति के लिए पुलिस विभाग की आवश्यकता समझी गयी है, इसी कारण प्राचीन शासक इसे महत्त्वपूर्ण समझते थे। उत्कीर्ण लेखों मे चोरोद्धरणिक (चोर पकड़ने वाले) तथा दंडपाशिक (चोरों को फंदा मे डालने वाले) नामों का प्रयोग मिलता है। मध्यकालीन प्रतिहार, परमार तथा पाल लेखों में पुलिस अधिकारी के लिए दाण्डिक, दण्डपाशिक आदि शब्द मिलते हैं। ग्रामों का भार तो मुखिया पर रहता था, जो स्वयंसेवक दल की सहायता से शांति रखता था। विदेशियों ने साफ तौर पर लिखा है कि भारतवर्ष में चोरी नाममात्र की होती थी। इस कारण पुलिस विभाग वर्तमान काल की तरह सुव्यवस्थित न था। चोरी होने पर यदि पता न चलता तो राजा को कुल हर्जाना देना पड़ता था। समय पड़ने पर जब किसी स्थान में पुलिस जाती थी, तब वहीं के लोगों को उनके भोजन तथा रहने का प्रबंध करना पड़ता था। अग्रहार दान लेने वाले व्यक्तियों को राजा इस प्रकार के आर्थिक कर (चारभट प्रवेश कर) से मुक्त कर देता था। सारांश यह है कि केन्द्र में पुलिस तथा सेना रहा करती थी और समय पर वहां पहुंच जाती थी।

महल

राजतंत्र में महल भी एक विभाग था, जिसकी निगरानी के लिए विश्वासपात्र कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे। गुप्तकाल से ही लेखों में प्रतिहार या महाप्रतिहार शब्द मिलते हैं। वह राजा से मिलने वालों को उनके सम्मुख उपस्थित करता था, जिसे अन्तःपुरिक शब्द से पुकारते थे। राजा के अंगरक्षक भी होते थे। ज्योषि वैद्य तथा कवि भी राज दरबार से सम्बन्धित रहते थे। ज्योतिषी

युद्ध यात्रा पर विचार करता था । अनेक विद्वान् राजा से पुरस्कार पाते और विद्याभ्यास में लीन रहते थे । इस तरह राजमहल का काम सुन्दर ढंग से चला करता था ।

इनके अतिरिक्त केन्द्र में अनेक पदाधिकारियों के नाम आते हैं जिनके वास्तविक स्वरूप को बतलाना कठिन है । दान पत्रों से उनके नाम मिलते है। राजा उन्हें आज्ञा देता था जिससे दान में कोई बाधा न डाले ।

राजकीय आय तथा व्यय

राजा की दृढ़ता तथा उसकी समृद्धि देश की आर्थिक नीति पर निर्भर रहती है । इसी कारण कोष की गणना राज्य के सात अगों में (सप्त प्रकृति) की जाती है। भूमि कर तो मुख्य साधन था जो उपज तथा नकद (पण) में लिया जाता था। पुराने समय में उपज का छठां भाग लिया जाता था । परन्तु मालगुजारी घटती बढती रहती थी । १० वीं सदी के बाद भूमि कर नकद लिया जाने लगा । इसके लिए भाग धोग कर शब्द मिलते हैं । मालगुजारी मुखिया के द्वारा वसूल की जाती थी। ९ वीं से ११ वीं सदी तक राजपूतों ने सरदार द्वारा भूमि कर वसूल करने का तरीका निकाला था, लेकिन वह अधिक दिन तक न चल सका। जमीदारी प्रथा का विकास न हो पाया जो कली में ही मुरझा गयी। भूमि कृषकों की थी और वे सीधे शासक को कर दिया करते थे । कृषि के अतिरिक्त व्यापार से चुंगी मिला करती थी । मध्य काल में छोटे कारखाने (तेल वगैरह) तेली, तमोली या घोड़े के व्यापारी पर चुगी लगाने का वर्णन मिलता है। तेली को कोल्हू पर, संगतराश को मूर्तियों पर तथा बैलगाड़ी पर लदे सामान पर चुगी देनी पड़ती थी । चुंगी की दर सदा विभिन्न रहा करती थी। सामान से भरी प्रति बैलगाडी पर दो रुपया चुंगी लगती थी। राजा कभी असामयिक कर भी लगाता था, उसे चाट भट्ट कर का नाम लिया जा सकता है। न्यायालय के आर्थिक दण्ड से भी

आय होती थी । परन्तु श्रोत्रिय ब्राह्मण, दानग्राही, लंगड़े, अपाहिज आदि इन सभी करों से मुक्त कर दिए जाते थे।

राजा प्रजा के कल्याण के लिए व्यय किया करता था। सेना पर प्राय: आधा खर्च हो जाता था। इसी प्रसंग में किले भी बनाये जाते थे। जनता के सार्वजनिक कार्य कृषि की उन्नति, मंदिर का निर्माण, तालाब खुदवाना, शिक्षा संस्था, धर्मशाला तथा सदावर्त्त आदि कार्य में काफी धन खर्च होता रहा। शासन प्रबंध में वेतन भी व्यय का एक मुख्य मार्ग था । दान मे कुछ कम नहीं देना पड़ता था। सम्भव है आपत्ति के लिए राजा स्थायी कोष में कुछ रखता था जिसे उत्तराधिकारी सिंहासन पर बैठते ही अधिकार में कर लेता था। उस समय बैंक से कर्ज लेने का ढंग न था, इस कारण उस धन कोसंकट के समय व्यय किया जाता था ।

प्रांतीय शासन

वर्तमान काल की तरह बडे राज्यों को प्रांतों से विभक्त कर लिया गया था । सर्वप्रथम मौर्य साम्राज्य में ही तक्षशिला, उज्ज्यनी, तोसली तथा पाटलिपुत्र नामक प्रांत थे प्रांतीय शासक (गवर्नर) ऊँचे पद के अधिकारी होते थे। मौर्यकाल में बिंदुसार, अशोक तथा कुणाल प्रांतीय शासकों के पद पर काम कर चुके थे। इसी तरह शुंग वंश का युवराज अग्निमित्र गवर्नर रह चुका था। कनिष्क के राज्य में भी काशी उज्जियनी, तथा मथुरा में गवर्नर रहते थे जिन्हें महाक्षत्रप कहा जाता था। सारनाथ के एक मूर्ति के आधार परस्तर पर कनिष्क के प्रांतधिकारी खरपल्लाना का नाम लिखा लिखता है। गुप्तकाल में भी ऐसे प्रांतों पर अनुभवी पदाधिकारी नियुक्त थे। राजकुमार के न रहने पर राजा की ओर से योग्य व्यक्ति उस पद पर रक्खा जाता था जो उपरिकर या कुमारामात्य कहा जाता था। इन प्रांतीय शासकों को राजा की तरह सब काम करना पड़ता था। कहीं कहीं सलाह करने के लिए प्रान्तीय राजसभा का उल्लेख मिलता है। केन्द्र के आदेशानुसार गवर्नर काम

करता था। प्रांत की माल की व्यवस्था में प्रान्तीय शासक का कितना हाथ था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु माल, कृषि की सिंचाई तथा शांति रक्षा के कार्य को गवर्नर ही देखता था। सार्वजनिक कार्य के लिए कर की वृद्धि भी यदा कदा किया करता था। मध्यकालीन लेखों में प्रान्त के शासक का नाम बार-बार लिया गया है। उस समय हर्ष, प्रतिहार तथा पाल राज्यों के अतिरिक्त कहीं भी गवर्नर न था। सम्भव है कि केन्द्र को ही प्रान्त मान कर एक पदाधिकारी नियुक्त कर दिया गया हो। जैसे आजकल दिल्ली का प्रांत है। शासन की सुविधा के लिए प्रांतों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटा गया था जिसे मुक्ति, राष्ट्र या देश कहा जाता था। उनका मुकाबिला आजकल की कमिश्नरी से कर सकते है। पुराने समय में साम्राज्य के विकेन्द्रीकरण की नीति थी, इस कारण उन अधिकारियों को शासन प्रबन्ध का पूरा भार दे दिया जाता था। मुक्ति के स्वामी को फौजदारी, माल आदि विषयों पर पूरा अधिकार था। उनके अधीन (सभी विभाग जैसे जिला आदि) से सभी कर्मचारियों पर नियंत्रण रक्खा जाता था। प्रादेशिक अधिकारी जिले के कर्मचारी की नियुक्ति करता था जिसे लेखों में विषयपति कहा गया है। मौर्यकाल से यानी ईसा पूर्व तीन सौ से लेकर बारह सौ ईसवी तक के राज्यों में विषयपति का पद था जिसका वर्णन तत्कालीन लेखों में सर्वत्र ही पाया जाता है। विषयपति (जिले का कलेक्टर) आजकल की तरह मालगुजारी तथा अन्य कर वसूल किया करता था। माल विभाग के और कर्मचारी विषयपति के अधीन रहते थे। शांति तथा सुरक्षा के लिए विषयपति के पास एक सेना की टुकड़ी रहा करती थी। पुलिस विभाग के अधिकारी दण्डपाशिक या चौरद्धरणिक जिले के विषयपति के मातहत थे। उनके न्याय कार्य के विषय में कुछ पता नहीं है। गुप्तकाल से जिले के शासन का विस्तृत हाल मिलता है। विषयपति को सलाह देने के लिए एक छोटी सभा थी, जिसके कई सदस्य होते थे। प्रथम

(मुख्य) महाजन,* प्रथम व्यवसायी, प्रथम शिल्पकार तथा प्रथम कायस्थ (लेखक) उस सभा के मुख्य व्यक्ति माने जाते थे। बंगाल के एक ताम्रपत्र (फरीदपुर) के आधार पर विषयपति की सभा में बीस आदमी रहते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश उन सदस्यों के चुनाव के बारे मे कुछ ज्ञात नहीं है। यह तो निश्चित ही है कि गुप्तकाल के बाद जिले का शासन सुसंघटित होता गया। ६०० ई० से लेकर १२०० ई० तक के लेखों में विषयपति का नाम अनगिनत स्थनों पर मिला है। दान सम्बन्धी ताम्रपत्रों में इसका नाम आवश्यक रूप से उल्लिखित किया जाता था। कारण यह था कि राज्य की ऊसर भूमि के क्रय विक्रय में विषयपति का हाथ रहता था। दान करते समय जिला परिषद् की अनुमति लेनी पड़ती थी। विषयपति को आज्ञापत्र या पत्र व्यवहार के लिए मुहर का प्रयोग करना पड़ता था। विहार प्रांत से नालंदा तथा राजगृह से ऐसी मुहरें मिली हैं जो बाहरी लोगों से पत्र लिखते समय जिले की मुहर लगा दी जाती थी।

नगर शासन

जिले का बटवारा ग्रामों में हो गया था; परन्तु राज्य के मुख्य नगरों के प्रबन्ध के लिए पृथक् एक समिति नियुक्त की जाती थी जिसे म्यूनिसिपैलिटी कह सकते हैं। राजा की राजधानी या जिले के केन्द्र नगर में सभी प्रकार के प्रबन्ध के लिए नगर पर सभा होती थी। इसका वर्णन पुराने समय से मिलता है। यूनानी लेखक मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर के प्रबन्ध के लिए एक समिति का वर्णन किया है जिसकी छः उप-समितियां थीं। उसके तीस सदस्य थे। उसके अधीन बाजार के काम से लेकर विदेशियों की गतिविधि पर दृष्टि रखने तक का कार्य सौंपा गया था। पुर या नगर के अधिपति के लिए पुरपाल कहा जाता था। दूसरी सदी के नासिक लेख में निगम सभा (नगर सभा) का उल्लेख मिलता है जो भूमि सम्बन्धी कार्य को देखती थी। नगर समिति के कार्यालय के पत्र व्यवहार के निमित्त 'करणिक' नामक व्यक्ति था। वहां पर अधिकतर

गैर सरकारी सदस्य कार्य करते थे परन्तु नगर जीवन सम्बन्धी सभी विषयों का प्रबन्ध सुचारु रूप से होता था। इन सब बातों से प्रकट होता है कि प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था में नगर समिति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

ग्राम शासन

भारतवर्ष में पुराने समय से ही स्वतंत्र इकाई को ग्राम कहते थे। राजतंत्र में प्रजातंत्रीय ढंग से शासन करने का कार्य गांवों में ही होता था। भारतवर्ष में ग्रामों की संख्या अधिक है। यह शासन व्यवस्था की धुरी है। वैदिक मंत्रों में ग्राम वृद्धि के लिए ही प्रार्थना की गयी है। उस सम्बन्ध में पुर का नाम नहीं मिलता। जातक ग्रंथों में किसी प्रदेश की समृद्धि के लिए ग्रामों का नाम बड़े गर्व के साथ लिया जाता है। गांव का शासक मुखिया होता था जिसे वेदों में ग्रामणी कहा गया है। प्राचीन लेखों में ग्रामपति या महत्तर शब्द उसके लिए प्रयोग किया गया है। गांव में एक मुखिया होता था और उसका पद आनुवंशिक होता था। वह वहां की सेना का नायक होता था और स्वयंसेवकों के साथ ग्राम की रक्षा करता था। मुखिया को बड़े-बड़े अधिकार थे। ग्राम सभा के सदस्य उसकी सहायता किया करते थे। मुखिया प्रभावशाली व्यक्ति होता था और ग्राम-वासियों के माता पिता के समान था। सरकार के प्रति उत्तरदायी होने पर भी वह जनता का आदमी था और उनकी रक्षा में सदा तत्पर रहता था। गांव की सभा पर भूमि के क्रय विक्रय का भार रहता था। सरकार की मालगुजारी मुखिया वसूल करता था। तत्सम्बन्धी सारे लेख गांव के कार्यालय में सुरक्षित रक्खे जाते थे। ग्राम सभा को पंचायत कहते थे जिसको कार्य भार के लिए कई उपसमितियों में बांट दिया जाता था। गांव के सभी सद्गृहस्थ सभा की सदस्यता के अधिकारी थे। उत्तरी भारत के लेखों में उन सदस्यों के चुनाव का कोई वर्णन नहीं मिलता; परन्तु दक्षिण भारतीय चोल लेख में सदस्यों के चुनाव तथा उनके गुण के भी वर्णन मिलते हैं। उनकी

संख्या के बारे में कोई निश्चित मत नहीं है । ग्राम सभा में बैठ कर सभी सदस्य सामाजिक चर्चा किया करते तथा ग्रम प्रबंध की बातें सोचा करते थे। सब सदस्य अवैतनिक रूप से कार्य करते थे। प्रत्येक योग्य व्यक्ति को काम करने का अवसर दिया जाता था। विद्वानों का मत है कि तीन वर्ष से अधिक कोई सदस्य नहीं रह सकता था। एक समिति भूमिमाप तथा कृषि और सिंचाई का काम देखती तो दूसरी देवालय के कार्य को संचालित करती रही। उसी के अन्तर्गत शिक्षा संस्थायें भी थीं। पाठशाला मंदिरों में स्थापित होती थी। गांव के झगड़े निपटाना पंचायत का सब से महत्त्वपूर्ण कार्य था। दीवानी मामलों में पंचायत की कोई सीमा न थी। गम्भीर अपराध के मामले राजा के पास भेज दिये जाते थे । पंचायत का निर्णय राजा को भी मान्य होता था । जैसा कहा गया है गांव की ऊसर भूमि का स्वामित्व पंचायत को ही रहता था; अतएव उसके बेचने से जो आय होती वह गांव के सार्वजनिक कार्य में व्यय की जाती । पंचायत के व्यापक अधिकार राजा घटाना न चाहता था। पुराने समय से ग्राम सभा के कार्य में कोई हस्तक्षेप न करता था। केवल राजा साधारण निरीक्षण किया करता था। मुसलमान काल में भी पंचायतें कार्य करती रहीं। अंग्रेजी राज्य में शासन की नीति केन्द्रीकरण की हो गयी, इस कारण गांव पंचायतें समाप्त हो गयीं।

ग्राम वासियों के भौतिक जीवन के अतिरिक्त सांस्कृतिक तथा साहित्यिक विकास कार्य की ओर भी पंचायत का ध्यान था। सार्वजनिक हितकार्य के लिए केन्द्रीय सरकार से सहायता मिलती रही। अकाल या संकट के समय ऋण लेने का अधिकार भी पंचायत को था। सारांश यह है कि ईसा पूर्व सदियों से ही ग्राम पंचायत सुचारु रूप से ग्राम की समस्त प्रकार की उन्नति के लिए काम करती रही। सारे ऐतिहासिक प्रमाणों पर १७ वीं सदी तक उनके कार्य का भली भांति पता लगता है परन्तु अंग्रेजों ने उसे नष्ट कर दिया।

भारतीय लेखों में ग्राम के प्रबन्ध का विस्तृत वर्णन मिलता है।

साहित्य में ऐसे प्रमाणों को कमी नहीं है जो इन बातों की पुष्टि करे। जितना वर्णन मिलता है उनमें सर्वत्र यही ज्ञात होता है कि गांव का शासन आदर्श ढंग का था। प्रजा का सब शाखाओं में पूरा अधिकार था। जनता के आर्थिक, मानसिक, शारीरिक तथा पारलौकिक अंगों की उन्नित के लिए पंचायत प्रबन्ध करती थी। जहां गांव में कारबार है वहां शिक्षा का भी प्रबन्घ था। खेती की उन्नति में संलग्न होने के लिए रास्ता खुला था। आमोद-प्रमोद की सामग्री वर्तमान थी। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत को सभ्यता के शिखर पर पहुंचाने में, समृद्धशाली तथा समुन्नत बनाने में गांवों का बहुत बड़ा हाथ रहा। जनता के प्रत्येक काम पर ग्राम-सभा का ध्यान था। यही कारण है कि प्राचीन भारत में रामराज्य की कल्पना की गयी है। शासन प्रबन्ध को आदर्श शैली पर चलाने में राजा तथा प्रजा दोनों का समान भाग था।

भारत का सामाजिक तथा भौतिक जीवन

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णन आता है कि प्रत्येक जीव में महान् शक्ति वर्तमान है। सब जीवात्मा अमर हैं। भारतीयों के जीवन का ध्येय मोक्ष है। संसार में ऋषियों ने धर्म और समाज का अत्यन्त सुन्दर मेल किया है और व्यक्ति की सत्ता धर्म के लिए बतलायी है। धर्म की भावना प्रधान होने से समाज में प्रत्येक प्राणी को कुछ कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है। श्रुति तथा स्मृति में समाज सम्बन्धी बातों का विवरण मिलता है। जब प्राणी समाज में प्रवेश करता है तब उसके सम्मुख तीन ऋण सदा बने रहते हैं। इन सब कारणों से भारतीयों ने समाज को ऐसा बनाया जिससे सभी ध्येय वस्तुएं प्राप्त हो सकें। सर्वप्रथम आर्यों ने अपने पूरे समाज को तीन वर्णों में विभक्त किया। इस देश की सब से मुख्य संस्था 'वर्ण-व्यवस्था' है। इसी भित्ति पर हिन्दू-समाज का भवन अवलम्बित है। प्राचीन समय से यह व्यवस्था अक्षुण्ण रीति से चली आयी है। संसार के इतिहास में ऐसी व्यवस्था अन्यत्र नहीं पायी जाती। वैदिक काल में समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया था। कार्य के अनुसार वर्ण निश्चित किये गए थे। पुरुषसूक्त में इन चारो का नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय विश् और शूद्र मिलता है। धर्म शास्त्रों में भी चारों वर्णो का उल्लेख पाया जाता है। समयान्तर में ये वर्ण जाति के रूप में परिणत हो गए। समाज में कार्य की परेशानी से बचने के लिए विभिन्न वर्ण (जाति) का कर्म निश्चित कर दिया गया जिससे सभी काम सुविधा के साथ चलने लगे। स्मृतिकारों ने तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को द्विज के नाम से सम्बोधित किया है। यद्यपि हिन्दू शास्त्रकारों ने इस से पूर्व ही चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् सामाजिक स्थान निर्दिष्ट कर दिए थे, फिर भी आज

कल की तरह न इतनी उप जातियां थीं न चारों वर्णों में इतना भेदभाव था। महाभारत काल में चारों वर्णों के लोग राज सभा के सभासद होते थे। बौद्ध तथा जैन धर्मों के कारण जाति-व्यवस्था पर गहरा धक्का पहुंचा था; पर उसका अस्तित्व बना रहा। हिन्दू धर्म के अभ्युदय के साथ इस संस्था की भी उन्नति हुई। वात्स्यायन ने कामसूत्र में जातियों का पूरा विवेचन किया है।

जैसा कहा गया है समाज चार जातियों में बंटा था। सब में श्रेष्ठ ब्राह्मण को माना जाता था। यह समाज का अगुआ था। विद्वत्ता, पवित्रता तथा व्यवहार में कुशलता के कारण चारों में इसी को प्रधान पद प्राप्त था। भगवान् ने गीता में लिखा है कि—

शमो दमः तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्।

अन्तःकरण से पवित्र इन्द्रियों को वश में रखना, नम्रता, ज्ञान तथा ईश्वर को मानना आदि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म माने गए हैं। मनु ने ब्राह्मणों के छः कर्त्तव्यों—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना—का वर्णन किया है।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः। (मनुस्मृति)

ब्राह्मण समस्त प्रजा में शिक्षा का प्रचार करता था। वैदिक यज्ञों का विधान करना और दान लेकर प्राणियों को पाप से मुक्त करना भी उसका परम कर्तव्य था। ब्राह्मण राजा को प्रत्येक विषयों पर सलाह देता था। इनका काम सदा आदर्श मार्ग पर चलना था। अपने षट्-कर्म के सिवाय ब्राह्मण आपत्ति काल में अन्य प्रकार से भी जीविका निर्वाह करता था। परन्तु ब्राह्मण के कर्म बतलाते हैं कि उसका जीवन कितना महान् था। संतोष ही उसका धन था। वह अपना समय परोपकार में व्यतीत करता था। यूनानी यात्री मेगस्थनीज

ने लिखा है कि ब्राह्मण स्वर्ण को भी न चाहते थे और न मृत्यु से डरते थे। कठिन से कठिन अपराध करने पर ब्राह्मण को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण-वध से बढ़ कर कोई दूसरा पाप संसार में न था। समयान्तर में इस जाति में अनेक उपजातियां बन गयीं। इस प्रकार जाति-भेद बढ़ता गया। बारहवीं सदी के बाद ब्राह्मणों में पंचगौड़ तथा पंचद्रविड़ की उत्पत्ति हुई।

समाज में ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों का भी ऊँचा स्थान था। क्षत्रियों के भी कार्यों में दान देना, यज्ञ करना तथा विद्याध्ययन मुख्य समझे जाते थे; परन्तु उनका प्रधान कर्तव्य प्रजा का पालन था।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् (विष्णु स्मृति)

वैदिक साहित्य में राजन्य शब्द से क्षत्रिय का बोध होता है। बौद्धकाल में क्षत्रियों की बड़ी प्रधानता रही। गौतम तथा महावीर क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। तत्कालीन अन्य धार्मिक विद्वान् क्षत्रिय ही थे; अतएव उनकी गणना ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठतर होने लगी। बौद्ध जातक कथाओं में यहां तक उल्लेख मिलता है कि धर्मप्रवर्तक सदा क्षत्रिय कुल मे ही उत्पन्न होते हैं। प्राचीन काल में जनक, प्रवाहन तथा जैवलि आदि क्षत्रियों ने शिक्षक का कार्य किया था। बौद्ध काल के पश्चात् क्षत्रियों की उतनी प्रधानता न रही। ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय के साथ समय परिवर्तित हो गया। क्षत्रियों में भी सात्विक प्रवृति के लोग पैदा होते रहे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि ब्राह्मण के सदृश क्षत्रिय भी सरल, पवित्र तथा मितव्ययी होते थे। उनमें दुर्व्यसनों का अभाव था। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में उपदेश दिया कि

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

क्षत्रियों में शूरता, धीरता के अतिरिक्त नियम रखने तथा दण्ड देने की शक्ति का प्राबल्य होता है। यही कारण है कि वैदिक काल

से ही क्षत्रिय भारत में शासक होते चले आए। इनमें उपजातियां नहीं थीं। सिर्फ गोत्र की वजह से नामों में भेद था।

तीसरा वर्ण वैश्यों का था जिनका प्रधान कर्म वाणिज्य करना था।

वाणिज्यं कर्षणं चैव गवांच परिपालनम् (मनु)

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही वैश्य लोग छोटी-छोटी समितियां बना कर कार्य करते थे। वर्तमान समय की लिमिटेड कम्पनी प्राचीन संस्था का नवीन रूप है। शासन के अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि भारत का समस्त व्यापार वैश्यों के हाथ में था, जो श्रेणी के नाम से पुकारे जाते थे। श्रेणियां प्रायः सारे आर्थिक काम किया करती थीं। 'लक्ष्मी वाणिज्यमाश्रिता' उक्ति के अनुसार वैश्यों के पास अपार सम्पत्ति थी। समाज में धन की आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों से कर्ज लिया जाता था। वैदिक काल में धर्म तथा रक्षा के कार्य हो जाने पर देश में श्रीवृद्धि की जिम्मेदारी वैश्यों को दी गयी, इसलिए इस तीसरे वर्ण ने समाज में स्थान प्राप्त कर लिया। वाणिज्य कोई निन्दनीय कार्य न समझा जाता था। आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय भी इस काम को करते थे। मनु आदि स्मृतिकारों ने प्राचीन वैश्य वर्ण का आदर के साथ उल्लेख नहीं किया है। उनके कथनानुसार अतिथि वैश्य को भृत्य के साथ बैठा कर भोजन कराना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने भी शूद्र के समान ही वैश्यों के अशौच का वर्णन किया है। इसका मुख्य कारण क्या था, यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। पर यह तो मानना पड़ेगा कि वैश्यों को द्विज मानते हुए भी समाज में उनका उतना आदर न था, जितना ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का। महाभारत कालीन राजसभा में वैश्य भी सभासद हुआ करते थे। उनके मंत्री होने का भी उल्लेख प्रशस्तियों में पाया जाता है। बंगाल में प्राप्त दमोदरपुर ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है कि प्रथम श्रेणी, प्रथम कुलिक तथा प्रथम सार्थवाह राजसभा के प्रधान व्यक्ति थे। वैश्य जाति में कोई उपजाति न थी; पर समयान्तर में काम के अनुसार उसमें कई उपजातियां बन गयीं।

द्विजाति में उपर्युक्त तीन वर्णों के अतिरिक्त कायस्थ की भी गणना होती है। शायद जो लोग लेखक का काम करते थे, वही कायस्थ कहलाए। गौरीशंकर ओझा ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियां जो लेखक का काम करती थी वह कायस्थ कहलायी। राजकर्मचारी का तथा न्यायालयों में लेखक का काम अधिकतर कायस्थ ही करते थे। वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था में कायस्थों का कोई नामोनिशान तक न था; परन्तु पीछे से लेखक बनने के नाते उन लोगों ने पृथक् अपनी जाति कायम करा ली।

वर्ण-व्यवस्था के अन्तिम वर्ग का नाम शूद्र था। तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—की सेवा करना ही शूद्रों का मुख्य कर्त्तव्य माना जाता था।

पशूना रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्यनाम्। (मनु)

आधुनिक काल की तरह यह वर्ण अस्पृश्य न समझा जाता था। समाज में इनको समुचित स्थान प्राप्त था। महाभारत में वर्णन मिलता है कि शूद्र राजसभा के सभासद हुआ करते थे। विष्णु ने लिखा है कि द्विजों की तरह शूद्र भी पंच महायज्ञ कर सकते हैं—

पंचयज्ञं विधानं च शूद्रस्यापि विधीयते।

कुछ स्मृतिकारों ने वेदाध्ययन का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया है। पीछे के समयों में शूद्र लोगों का स्थान समाज में गिर गया। उनके साथ यात्रा करना तथा उनसे किसी वस्तु का छू जाना अनुचित समझा जाता। शूद्र के घर आने पर अतिथि होने के नाते उसे नौकर के साथ खाना खिलाया जाता था। परन्तु आजकल से उनकी दशा उन्नत अवस्था में थी। शूद्र धीरे-धीरे सेवा-भाव से हटकर दूसरे कामों में लग गए। इस प्रकार समाज में बहुत सा काम—कृषि, वाणिज्य तथा कारीगरी—शूद्रों के हाथ में आ गया। इन कारणों से वे धनवान भी हो गए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शूद्र पहले धनवान नहीं होते थे। मनु ने कहा है कि शूद्र राजा के राज्य में ब्राह्मणों को निवास न

करना चाहिए। इससे साफ मालूम पड़ता है कि शूद्र जाति के शासक भी होते थे। समाज में किसी कारणवश शूद्र अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता था। शूद्रों में भेद-भाव पीछे उत्पन्न हुआ। यह भेद कामों की विभिन्नता के कारण पैदा हुआ। विद्वानों का मत है कि कार्य के अनुसार ही शूद्रों में उपजातियां बनती गयीं। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसी जातियां थीं जो अस्पृश्य समझी जातीं और उन्हें अन्त्यज कहते थे। शूद्र तथा अन्त्यज मे बहुत अन्तर है। शायद अन्त्यजों की उत्पत्ति प्रतिलोम विवाह से हुई। ये चारों वर्णों के साथ निवास न कर सकते थे। आधुनिक काल की तरह प्राचीन समय मे छूआ-छूत का इतना विचार न था। नीच कर्म करनेवालों को छूना अनुचित समझा जाता था। पर वर्तमान समय के नियम तो मध्यकाल में बने और स्मृतियों में नाना प्रकार के अन्त्यज और स्पृश्यास्पृश्य का विचार समाज में आ गया।

भारतवर्ष की सब से अजीब संस्थाएं संस्कार तथा आश्रम हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे समय आते हैं जिनकी कुछ न कुछ महत्ता समझी जाती है। उन अवसरों पर उत्सव मना कर चित्त की भावना को व्यक्त करते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब आनन्द-दायक ही होते हैं; पर उन संस्कारों से जीवन की मुख्य घटनाएं सम्बन्धित हैं। ऋषियों ने इन संस्कारों को सोलह अवसरों पर मनाने का विधान किया है। जीव के गर्भ में आने से ही वह मनुष्य बन जाता है। अतः उस व्यक्ति की सूक्ष्म दशा से ही संस्कार प्रारम्भ होते हैं। गर्भ में आने पर गर्भाधान संस्कार होता है। पैदा होने पर, नाम रखने के समय, अन्नप्रासन के अवसर पर भी विभिन्न रीति से शास्त्रा-नुकूल संस्कार मनाए जाते है। चूड़ाकर्ण भी एक प्रधान संस्कार समझा जाता है। यज्ञोपवीत और विवाह आदि तो जीवन के शुभ अवसर हैं अतएव इन समयों पर खुशी मनाना स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अन्त में भी (मृत्यु के समय) अन्तिम संस्कार का विधान किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जन्म

से लेकर (गर्भाधान के समय) मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के जीवन में सोलह प्रकार के संस्कार मनाए जाते हैं। भारतवर्ष की यह पद्धति संसार में एक नयी वस्तु मानी जाती है। वैदिककाल से ही इन संस्कारों को कार्यरूप में लाया जाता था। वर्तमान समय में मुख्य संस्कारों को सभी हिन्दू मानते हैं। ये कार्य उस प्राचीन संस्था के प्रतीक रह गए हैं। धर्मशास्त्रों में इनका वर्णन विस्तार के साथ पाया जाता है। आधुनिक काल में प्राचीन संस्कारों को फिर से कार्यान्वित करना चाहिए। ये भारतीयों की विशेषता को बतलावेंगे। कारण यह है कि मनुष्य का जीवन कभी धर्म से खाली नहीं समझा जाता है। गौतम ने जीवन में चालीस संस्कारों का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति अच्छे गुणों से रहित होगा उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। सारांश यह है कि सभी लोगों ने संस्कार की महत्ता को समझा था और प्रत्येक परिवार में इस पर अमल किया जाता था।

जैसा लिखा गया है मनुष्य जीवन में चारों आश्रमों का एक ऐसा मार्ग है कि व्यक्ति शनैः शनैः मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। चारों आश्रम में मनुष्य अपने श्रम से, मानसिक चिन्तन से, धार्मिक पवित्रता से, अहं को त्याग देने से आत्मा को ऊंचा उठा सकता है। इसमें मनुष्य-जीवन का पूरा इतिहास छिपा है। सब से पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का है। ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता है, ज्ञान से आत्मा की उन्नति करता है तथा जीवन को सुखी बनाने के लिए कठिन नियमों और उपनियमों का पालन करता है। यह मनुष्य के लिए सीखने का समय है जिसको पार कर वह असली जीवन में पदार्पण करता है।

जीवन का दूसरा आश्रम 'गृहस्थ' के नाम से पुकारा जाता है। सारी ज्ञानराशि को ग्रहण कर ब्रह्मचर्य के बाद वह व्यक्ति गृहस्थ बनता है। यहां उसे तीन ऋणों—पितृ, ऋषि तथा देव—से मुक्त होने का उपाय करना पड़ता है। यद्यपि वह संसार के सारे सुख और ऐश-आराम की सामग्री का उपभोग कर सकता है, तो भी गृहस्थाश्रम सब से कठिन समय माना जाता है। मनु तथा वशिष्ठ का मत है कि

गृहस्थ जीवन आश्रमों में सब से अच्छा है। इस काल का सब से प्रधान कार्य एक स्त्री को पत्नी के रूप में रखना है। वैदिक साहित्य में पत्नी को बड़ा ऊंचा स्थान दिया गया है। तैत्तरीय तथा शतपथ ब्राह्मणों में वर्णन मिलता है कि पत्नी से ही गृहस्थ पूर्ण समझा जाता है। मनु ने तो उल्लेख किया है कि पुरुष का अस्तित्व पति तथा पत्नी को मिला कर बनता है। स्त्री तो पुरुष की छाया समझी जाती है। कहने का अर्थ यह है कि गृहस्थाश्रम का मुख्य कार्य पत्नी का ग्रहण करना है। इस आश्रम में तीनों ऋणों से छुटकारा पाना गृहस्थ का ध्येय होना चाहिए। पुत्र की उत्पत्ति, यज्ञ तथा अध्ययन से वह ऋणों से मुक्त हो कर सुख पाता है।

गृहस्थ जब देखता था कि उसके बाल सफेद हो गए और पौत्र का जन्म हो गया तो वह सुखों को त्याग कर और धन तथा बान्धव की इच्छा को छोड़ कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। पवित्र जीवन व्यतीत करता हुआ वह जंगल में रहता था। बस्ती में आने की उसको कोई आवश्यकता न होती थी। वह जंगल में होम करता था और कंद-मूल फल पर जीवन बिताता था।

मनुष्य जीवन के अंतिम आश्रम को संन्यास आश्रम कहते थे जहां वह अपने को ईश्वर में मिला देता और मोक्ष प्राप्त करता था। उपनिषदों में उसे कई एक नाम से सम्बोधित करते थे। यति—जो अपनी वासना को वश में रक्खे; संन्यासी—जो सब वस्तुओं को त्याग दे; मुनि—जो ध्यान में लीन हो; परिव्राजक—जो सर्वत्र भ्रमण करता हो, अथवा भिक्षु—जो भिक्षा पर जीवन बिताता हो। इन नामों से वह मनुष्य अंतिम समय में विख्यात होता था। यति के लिए न रहने को झोपड़ी होती, न भोजन के लिए अन्न। वह हवन भी न करता था। वह संसार में अहं को भुला देता तथा गांवों में भिक्षा मांगने के लिए जाया करता था। पृथ्वी ही उसकी शय्या थी। यानी संसार में किसी भी वस्तु की उसे आवश्यकता न रहती थी। सभी उसके लिए "समः" समान थे। ब्रह्म की प्राप्ति

संन्यासी का ध्येय हुआ करता था। वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों का समान वर्णन नही मिलता परन्तु उपनिषद्काल में आश्रमों का पूरा विकास हो गया था। किसी शास्त्रकार ने यह भी उल्लेख किया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य चौथे आश्रम में प्रवेश कर सकता था। इस प्रकार का वर्णन बौद्ध जातकों मे कई स्थानों पर मिलता है। परन्तु इस प्रकार के जीवन की प्रशंसा नही की गयी है। चारों आश्रमों में क्रमशः जीवन को बिताना श्रेयस्कर समझा जाता था। गृहस्थाश्रम जीवन शरीर की रीढ़ समझी जाती है जिससे समाज में व्यक्ति सुखी रह सकता है। मनु का मत है कि बिना तीनों ऋण से मुक्त हुए कोई सन्यास आश्रम मे नही आ सकता। इतना ही नही, राज-नीति ग्रंथों में राजा को आदेश किया गया है कि किसी व्यक्ति को प्रथम आश्रम से यति न बनने दिया जाय। कौटिल्य ने लिखा है कि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों में प्रत्येक मनुष्य सब को पार करता हुआ समाज में रह सकता था। समाज के नियमानुकूल वह क्रमशः सब सीढ़ियों को पार करता हुआ आगे बढ़ सकता है। यदि प्राचीन समय की ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत में चारों आश्रमों को क्रमशः पालन करने की परिपाटी थी। यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने ईसा के पूर्व तीसरी सदी में लिखा था कि यति लोग ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध व्यक्ति होते थे। ईसा की पहली शताब्दी तक बुद्धधर्म का प्रभाव जाता रहा और यकायक परिव्राजक बनने की प्रथा भी जाती रही। ब्राह्मणों ने प्राचीन शास्त्रीय रीति से आश्रमों का पालन किया। गुप्तकाल में समाज आदर्श मार्ग से सब नियमों का पालन करता रहा। उस समय किसी अशास्त्रीय घटना का उल्लेख नहीं मिलता। यह विवरण इसको प्रमाणित करता है कि संसार में ये संस्थाएं अद्वितीय थीं। आधुनिक काल में भी उन पर कार्य करने का प्रयत्न किया जाता है; पर सांसारिक बन्धनों के कारण हम उस ऊंचे आदर्श तक पहुंच नहीं पाते और जीवन असफल रह जाता है। आर्थिक उन्नति को

जीवन का ध्येय मान कर कार्य करने से आश्रमों के पालन करने में कठिनाई दिखलाई पड़ती है । प्राचीन प्रणाली को मानने से तत्कालीन समाज सुखी था और जीवन के प्रत्येक मार्ग में सफलता ही मिलती रही।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज उसका प्राण है। यदि वह समाज से बाहर रक्खा जाय तो उसका जीवन कठिन हो जायगा। अतएव वह सब से मिलकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करता है । यहां पर प्राचीन समय के लोगों की रहन-सहन, आमोद तथा उनके जीवन सम्बन्धी अन्य बातों का वर्णन किया जायगा। वैदिककाल से लोगों ने रहने के लिए इमारतें बनवायीं। जिनके भवन अत्यन्त सुन्दर होते। सिन्ध की घाटी में जो मोहं-जो-दडो में खुदाई हुई है जहां भव्य महल तथा मार्ग के भग्नावशेष मिले हैं। मनुष्य के आवश्यक सभी सामान, स्नानागार, अतिथिगृह आदि दिखलाई पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों आर्य सभ्यता फैलती गयी, समाज में रहने के लिए सुन्दर मकान बनाने का आयोजन होता गया। अशोक के महल के अवशेष भाग पाटलिपुत्र में मिले हैं जो साफ बतलाते हैं कि ईसा के पूर्व सदियों में कैसे मकान बनते थे। कवि कालिदास तथा शूद्रक ने राजमहलों तथा साधारण लोगों के निवासस्थान का वर्णन किया है ।

महलों तथा गृहों से लगा हुआ छोटा-सा बाग रहता था जिसमें आमोद-प्रमोद की सामग्रियां एकत्रित रक्खी जाती थीं। साहित्य में ऐसा वर्णन कई स्थानों पर मिलता है । पक्षी पालने का शौक अधिकतर लोगों को था । प्रायः शुक, सारिका, मोर तथा हंस आदि को लोग पालते थे । पुरातत्व विभाग की खुदाई में ऐसे स्थान मिले हैं जहां पर पक्षियों की आकृतियां पाई गयी हैं अथवा मिट्टी की मूर्त्तियां मिली हैं । पशुओं को आमोद का साधन बनाया जाता था। रथ की दौड तथा घुड़दौड़ में घोड़ों की तेजी देखी जाती थी। वैदिक काल में ये दौड़ विशेष प्रकार के आमोद की साधन थे। प्राचीन

चित्रकारी में घोड़े तथा हाथियों पर बैठे हुए स्त्री-पुरुष के चित्र मिलते हैं, जिससे इन पशुओं की प्रधानता ज्ञात होती है । समाज में प्रायः सभी, राजा-रंक, आमोद-प्रमोद में भाग लेते थे । प्राचीन काल से लेकर आज तक पासा खेलने का वर्णन पाया जाता है । आर्यों का यह प्रधान खेल था । नृत्य तथा गाने-बजाने का स्थान कम महत्त्वपूर्ण न था। सभी लोग इसमें भाग लिया करते थे। मध्यकालीन लेखों में नट की तरह व्यायाम तथा जिमनेजियम का उल्लेख मिलता है । हाथ के बल से लोग अपने शरीर को साधते थे। मूर्तिकला में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो मनुष्य के कंधों पर खड़े हो कर मीनार बनाते दिखलाई पड़ते हैं।

सामाजिक जीवन में आनन्दलाभ के लिए बड़े-बड़े उत्सव मनाए जाते थे। सामूहिक यात्रा, समाज-गोष्ठी, उद्यान-भ्रमण तथा समस्या-क्रीड़ा नामक पांच उत्सवों का वर्णन वात्स्यायन ने कामसूत्र में किया है। अशोक मौर्य की प्रशस्तियों में ऐसे उत्सव तथा क्रीड़ा का उल्लेख पाया जाता है । शासकगण इसमें भाग लिया करते थे। चीनी यात्री फाहियान ने पाटलिपुत्र की रथयात्रा का वर्णन किया है। देवताओं की सोने की मूर्त्तियां, चांदी-जटित रेशम की ध्वजा के साथ सुन्दर भड़कीले रथ पर घुमायी जाती थीं। गाना-बजाना भी साथ साथ हुआ करता था। प्रत्येक जनपद में ऐसा होता था तथा उन सब आनन्दप्रद उत्सवों में सभी सम्मलित होते थे । इसके अतिरिक्त राजा तथा क्षत्रिय लोग आखेट में भी सम्मिलित होते थे। जानवरों की लड़ाई भी देखने की वस्तु समझी जाती थी । ये सब प्राचीन समय में आमोद तथा मनोरंजन के साधन समझे जाते थे।

समाज में मनुष्यों के वस्त्राभूषण के विषय में अनेक साहित्यिक विवरण मिलते हैं ; पर उनका नमूना बहुत पुराना नहीं मिलता। यों तो वेदों में कपड़े बुनने की चर्चा है; पर जिस समय से मूर्त्तियां बनने लगीं उसी काल से भारतीय नर-नारियों के पहनावा तथा आभूषण का ज्ञान होता है। पुराने समय

में पुरुषों के लिए अधो वस्त्र (धोती) चादर तथा पगड़ी का व्यवहार बड़े अवसरों पर होता था। ईसवी सन् से जो मूर्त्तियां बनने लगीं उन पर पतले वस्त्रों का आभरण दर्शाया गया है। इस हालत में अधोवस्त्र को पहचानना कठिन हो जाता है। सोने के सिक्कों पर कुशान तथा गुप्त नरेश लम्बे कोट तथा पायजामा पहने हुए अंकित किए गए हैं। साधारण लोग सिर पर पगडी तथा राजा लोग मुकुट धारण करते थे। स्त्रियां साड़ी पहनती थीं। उनका कपड़ा रंगीन हुआ करता था। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त प्रस्तरों में लंहगा और चादर पहने हुए स्त्रियों के चित्र अंकित हैं। बाघ गुफाओं में जो चित्र चित्रित हैं उनमें स्त्रियां साड़ी तथा चोली पहने दिखलाई गयी हैं। अजंता में छींट की अंगिया पहने हुए स्त्री का चित्र मिलता है। इस प्रकार नाना प्रकार के वस्त्रों का समाज में प्रयोग होता था। मध्यकाल में सिले वस्त्र पहनने का रिवाज चल निकला था। कुछ विद्वानों का मत है सिलाई के ढंग का अरब वालों ने ७ वीं सदी में प्रचार किया; परन्तु भारत में यह प्रथाबहुतपहले से वर्तमान थी। पहनने के लिए सुन्दर तथा बारीक वस्त्र प्रयोग में आते रहे। पुरुष सफेद वस्त्र पहनते थे, परन्तु स्त्रियाँ नाना प्रकार के रंगीन वस्त्रों का प्रयोग करती रहीं और छपी हुई अंगिया पहनती थीं। गृहस्थों के अतिरिक्त साधु रंगीन कपड़े धारण करते थे। जैन पीले या सफेद, बौद्ध भिक्षु और हिन्दू साधु भगवा रंग के कपड़े पहनते थे।

पुराने समय में वस्त्रों के साथ केशों को सुन्दर बनाने के अनेक तरीके काम में लाये जाते थे। पुरुष लम्बे बाल रखते थे। बालकों के घुंघराले बाल होते। काशी के कलाभवन में एक ऐसी मूर्त्ति सुरक्षित है जिसके काकपक्ष दिखलाई पड़ते हैं। मूर्त्तियों तथा चित्रों में स्त्रियों के केश-विन्यास के सैंकड़ों सुन्दर प्रकार मिलते हैं। ईसा के पूर्व की तीसरी चौथी सदी में स्त्रियों के बालों का नमूना मूर्त्तियों से ज्ञात हो जाता है। पीछे की ओर एक बड़ी गांठ देने का रिवाज था। स्त्रियां बालों में सुगन्धित तेल लगा कर नाना प्रकार

की गांठ बांधती थीं। अजंता तथा बाघ के चित्र तथा मथुरा से मिली यक्षियों की मूर्त्तियाँ इस कथन को प्रमाणित करती है। शरीर को सुन्दर तथा रमणीय बनाने के लिए आभूषण का भी प्रयोग किया जाता था। केशर मिला कर उबटन लगाया जाता था तथा टीका लगाने की प्रथा भी थी। काजल लगाना भी शृङ्गार में शामिल था। हार, कर्णफूल, बाहुदण्ड, कड़ा, करधनी आदि का वर्णन साहित्य में मिलता है और नमूने पत्थर की मूर्त्तियों में पाए जाते हैं। सिक्कों में राजाओं के हाथ में अंगूठी दिखलाई पड़ती है। वात्स्यायन ने आभूषण का प्रयोग अनिवार्य बतलाया है। अत: पुराने समय के ग्रंथों में इनका सर्वत्र उल्लेख पाया जाता है। ये सब विवरण भारतीय लोगों के समाज में आनन्दोत्सव तथा सुन्दर रहने के ढंग को बतलाते हैं।

प्राचीन समय में भोजन की कमी न थी। प्रत्येक पदार्थ काफी मात्रा में मिलता था। लोगों की रुचि के अनुसार तरह तरह के भोजन तैयार किए जाते थे। खाद्य वस्तुओं में घी, दूध का प्रयोग सभी लोग खूब करते थे। वैदिक काल में मांस तथा शाकाहारी व्यक्ति पृथक्-पृथक् भोजन किया करते थे। सोमपान का वर्णन वैदिक साहित्य में पाया जाता है; पर शराब से इसकी कदापि समता नहीं कर सकते। बौद्धधर्म के कारण अहिंसा के प्रचार से मास भोजन से घृणा होने लगी। अशोक के लेखों से पता चलता है कि हिरन तथा पक्षियों का मांस भोजनालय में पकता था; परन्तु धीरे-धीर सभी जीव-हिंसा बंद कर दी गयी। हिन्दुओं ने मांस खाना त्याग दिया। प्राय: सभी शाकाहरी बन गए। साधारणतया चावल, गेहूं, शक्कर आदि भोजन-सामग्री का नाम मिलता है। गुप्तयुग में ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय से मद्य-मांस तो दूर रहा, लहसुन-प्याज का खाना निषिद्ध हो गया। फाहियान ने इसका स्पष्ट वर्णन किया है। केवल चाण्डाल मछली खाते थे। व्हेनसांग ने लिखा है कि समाज में दूध, घी, गेहूं, चीनी और सरसों के तेल का अधिक

व्यवहार होता था। मध्ययुग की जातियों में विभिन्न प्रकार के भोजन का वर्णन मिलता है। अन्न तथा फल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यंजनों की चर्चा साहित्य ग्रंथों में मिलती है। शाक तथा मसाले के द्वारा नाना प्रकार का भोजन तैयार किया जाता था। अरब यात्रियों ने चावल के अधिक प्रयोग का उल्लेख किया है। जो मांस-मदिरा ब्राह्मणों के लिए निषेध था, क्षत्रिय उसका प्रयोग करते थे। अन्तर्जातीय भोजन का नाम मिट गया था। भोजन में शुद्धि तथा सफाई का बहुत ध्यान रक्खा जाता था। सोने, चांदी तथा ताम्बे के पात्र प्रयोग में आते थे। भोजन के बाद ताम्बूल का सदा ही प्रयोग होता रहा। बहुत प्रमाणों पर यह हिसाब लगाया गया है कि प्राचीन समय में एक व्यक्ति अठाईस रुपये में पूरा एक वर्ष अपना निर्वाह कर लेता था। इस अल्प व्यय से यही कहा जा सकता है कि भोजन-सामग्री अत्यन्त सस्ती थी, जिसका अनुमान आधुनिक काल में नहीं किया जा सकता है।

प्राचीन भारत के समाज का विवरण उस समय तक पूरा नहीं हो सकता, जब तक कि स्त्रियों के स्थान तथा उनकी दशा का वर्णन न किया जायगा। यह तो कहा जा चुका है कि गृहस्थ-जीवन का एक मात्र ध्येय पारिवारिक जीवन को सुखी बनाना था। उसके लिए स्त्रियों को योग्य बनाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाता था। वैदिककाल से लेकर हिन्दू शासनकाल तक उनका स्थान समाज में बहुत ऊंचा था। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का सिद्धान्त माना जाता था। वे गृह-लक्ष्मी समझी जाती थीं। वैदिक-युग में पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी यज्ञोपवीत किया जाता था। (पुराकाले तु नारीणां मौंजी बन्धनमिष्यते)। प्रत्येक यज्ञ में पुरुष स्त्री के साथ ही कार्य किया करता था। उस समय की अनेक विदुषी स्त्रियों का नाम मिलता है जिन्होंने वैदिक मंत्र बनाए। शिक्षा तथा पालन-पोषण के सभी कार्य बालक तथा बालिकाओं के लिए एक सा सम्पादित किया जाता था। वात्स्यायन ने कामसूत्र में इनके

लौकिक तथा पारलौकि कार्यों का वर्णन किया है। साहित्य में भी समाज में स्त्रियों के ऊंचे स्थान का उल्लेख पाया जाता है। स्त्री को आदर्श पत्नी तथा विदुषी बनाने के लिए प्राचीन समय में शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता था। प्रायः सभी स्त्रियां शिक्षा प्राप्त करतीं। निर्धन स्त्रियां साधारण तरीके पर शिक्षित होकर पठन-पाठन बंद कर देतीं। पत्र लेखन और आयव्यय का हिसाब रखना ही उनकी शिक्षा की अंतिम सीढ़ी न थी। ऊंची श्रेणी तक भी शिक्षा का प्रबंध था। ऐतिहासिक ग्रंथों से पता लगता है कि राजकुमारियां काफी शिक्षित हो कर राज्य प्रबंध करती थीं। मृच्छकटिक नाटक में भली प्रकार पढी लिखी औरतों का वर्णन मिलता है। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त उच्च श्रेणी की शिक्षिता महिला थीं। पुत्रों की बाल्यावस्था में वह राजकार्य का संचालन करती थीं। राजाओं के सिक्कों पर राजमहिषी के चित्र अंकित हैं जो बतलाते हैं कि गुप्त नरेशों की रानियां यज्ञ में भाग लिया करती थीं। ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं है जो स्त्रियों की उच्च शिक्षा के बारे में उल्लेख करते हैं। भारतीय नारियों के कारण ही संतान महापराक्रमी होते थे। उन्हीं की शिक्षा का फल था कि अर्जुन, कर्ण, अभिमन्यु ऐसे महारथी भारत में पैदा हुए।

इस उन्नति का एक यह भी कारण था कि प्राचीन भारत में परदा का सर्वथा अभाव था। प्रायः सभी स्त्रियां सुन्दर वस्त्र पहन कर सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती थीं। यज्ञ में भाग लेना, राजकार्य संचालन करना तथा वार्तालाप में भाग लेने का कार्य ऐसा था, जो परदे के साथ नहीं हो सकता। विदेशी लोगों ने भारत में इसके अस्तित्व को भी मिटा दिया है। चित्रों को देखने से यह प्रकट हो जाता है कि परदे का अस्तित्व सचमुच न था। स्वयम्वर की प्रथा भी परदे को समूल नष्ट कर देती थी। कालिदास के शकुन्तला तथा अनसूया के वर्णन से यह प्रकट होता है कि परदे का रिवाज समाज में न था। ह्वेनसांग ने राज्यश्री (हर्षवर्धन की बहन) का महायान

दर्शन पर वार्तालाप करने का वर्णन किया है। ये सब बातें यही सिद्ध करती हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में परदे का नामोनिशान तक न था। संस्कृत की अनेक विदुषी कवियित्रियों के नाम (सुभद्रा, मदालसा आदि) मिलते हैं। इतिहास में शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने वाली विदुषी का नाम आता है। राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी का नाम कई स्थल पर मिला है। लीलावती को गणित का अच्छा ज्ञान था। इस प्रकार की ऊंचे श्रेणी की स्त्रियों के अतिरिक्त साधारण स्त्रियां भिक्षुणी हो जाती थीं और मठ में रहा करती थीं। समाज में वेश्याओं की चर्चा भी स्थान-स्थान पर मिलती है।

स्मृति ग्रंथों में विवाह की विभिन्न प्रथाओं का वर्णन मिलता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस, (८) पैशाच। बहुत सम्भव है कि सभी प्रकार के विवाह प्रचलित न रहे हों। पहले चार प्रकार के विवाहों को उत्तम समझा जाता था। उन्हीं की प्रधानता थी। साधारण जनता में पहले चार प्रकार के विवाहों का ही प्रचार था। गान्धर्व विवाह को बहुत नीच नहीं समझा जाता था। प्राचीन समय में स्वयंम्बर तो प्रसिद्ध विवाह का तरीका था। स्त्रियों का विवाह पूरे तौर से युवती होने पर किया जाता था। बाल्यावस्था में विवाह नहीं होते थे; पर यदि कोई करता, तो उसकी बड़ी निन्दा की जाती थी। विधवा विवाह का अभाव न था। स्त्री पति के विदेश से न आने पर नियोग कर सकती थी। मनु ने 'पुनर्भू' पुत्र का नाम दिया है जो सम्भवत: विधवा का पुत्र समझा जाता था। इसका समाज में तिरस्कार न किया जाता था; पर याज्ञवल्क्य के मतानुसार 'पुनर्भू' दामाद तथा बान्धव के समान समझा जाता था; इससे प्रकट होता है कि विधवा का विवाह होने पर वह समाज से बहिष्कृत न की जाती; परन्तु इसे प्रोत्साहन भी न दिया जाता था। इसके अतिरिक्त पति के मरने पर विधवा सती हो जाती थी। विष्णु स्मृति में

लिखा है कि विधवा स्त्री के लिए दो आदर्श मार्ग थे। पहला मार्ग सती होना, दूसरा ब्रह्मचारिणी बन कर रहना। शुद्ध जीवन बिताने से सती होना अधिक श्रेयस्कर माना गया है। प्राचीन लेखों तथा साहित्य ग्रंथों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि अमुक स्त्री सती हो गयी। एरण (मध्यप्रांत) के एक लेख में गुप्त सेनापति गोपराज की स्त्री के सती होने का वर्णन मिलता है। हर्ष ने विन्ध्यकेतु की स्त्री के सती होने का उल्लेख किया है।

समाज में स्त्रियों के आदरणीय स्थान मिलने के कारण ही उन्हें कानूनी हक भी मिले थे। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए राजनियम बने थे। वह 'स्त्रीधन' कहलाता था। स्मृतिकारों ने स्त्रीधन का उपयोग करने के लिए स्त्रियों को पूरी स्वतंत्रता थी। उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमों में उनके अधिकार की गणना थी। पति के मरने पर, पुत्र न होने पर, पत्नी उस सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी।

अनपत्यस्य पुत्रस्य मातादायमवाप्नुयात्।

इतिहास में ऐसी घटनाएं अनेक हैं। गुप्तकाल में स्त्रियों के दायाधिकार का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार समाज में स्त्रियों को पुरुषों से घट कर स्थान नहीं दिया जाता था। कारण यही था कि दोनों के साथ से समाज समुन्नत हो सका। समाज की शोभा, पुरुष-स्त्रियों के समान अधिकार में है।

किसी समय के समाज की वास्तविक स्थिति का ज्ञान मनुष्यों के चरित्र से किया जा सकता है। भारतीयों का चरित्र सदा उज्ज्वल तथा पवित्र रहा। विदेशी यात्रियों ने भी भारतीय चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत के लोग सत्यवादी होते थे। बुरी बातों का नाम न था। घरों में ताले नहीं लगते थे। वीरता की प्रसिद्धि तो सभी को ज्ञात है। चीनी यात्रियों ने भी मेगस्थनीज के कथन की पुष्टि की है। अतिथि-सत्कार उनका प्रधान गुण था। भारतीय आदर्श नागरिक थे। कामसूत्र में वर्णित

दैनिक जीवन और नाना प्रकार के कार्यों से भारतीय चरित का अनुमान किया जा सकता है ।

भारतीय समाज का वर्णन समाप्त करने से पूर्व एक या दो बुराइयों का विवरण देना सर्वथा आवश्यक है । बुरी तथा भली बातें सर्वत्र पायी जाती हैं; परन्तु प्राचीन भारत में दास-प्रथा और कुछ अन्धविश्वास ही बुराइयों की गणना में आते हैं। किसी न किसी रूप में दास-प्रथा वर्तमान थी। हिन्दूसमाज में आत्मसमर्पण ही दास-प्रथा की उत्पत्ति का सूत्र माना जाता है। दास जो कमा सकता था वह सब मालिक का हो जाता था। उसके साथ स्वामी सदा अच्छा व्यवहार करता था। यहां तक कि वह मालिक के परिवार का एक व्यक्ति हो जाता था। दास स्वामी के प्रतिबन्ध को पूरा कर स्वतंत्र हो सकता था। उचित कार्यों से वह सद्व्यवहार का पात्र बन जाता तथा स्वतंत्र होने का अधिकारी हो जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में उन दासों के मानसिक सुखों का अनुमान नहीं किया जा सकता।

यद्यपि प्राचीन भारत में विज्ञान की काफी उन्नति हो गयी थी, तो भी अन्धविश्वास का प्रभाव लोगों के दिल पर बना रहा। किसी न किसी रूप में यह फैला रहा। अथर्ववेद तथा संस्कृत साहित्य में सम्मोहन, पीड़न, मारण व वशीकरण का वर्णन मिलता है। मानसार में मनुष्यों में प्रचलित भूत-प्रेत, पिशाच तथा बेताल आदि पर विश्वास का वर्णन पाया जाता है। बौद्ध लोगों ने मंत्र-तंत्र को इतना अपनाया कि 'तंत्रयान' नामक संस्था उत्पन्न हो गयी। राजाओं में भी भुजा फड़कने का आशय अन्धविश्वास ही माना जा सकता है। परन्तु विज्ञान के सामने इसका अधिक प्रसार न हो सका।

भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन का एक विशेष स्थान है। जहां वेदान्त दर्शन में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' का सुन्दर उपदेश है वहां चार्वाक दर्शन इसके ठीक विपरीत संसार की सत्यता को सिद्ध करता हुआ हमें ब्रह्म के असत्य होने की शिक्षा देता है । 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त को मानने वाले लोगों का यह महामन्त्र "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥" चार्वाक ही का है, ऐसा कहा जाता है। अपने सिद्धान्त की इसी विलक्षणता के कारण यह दर्शन भारतीय दर्शन के इतिहास में इतना प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हो गया है ।

भारतीय दर्शन में 'चर्वाक' शब्द का अर्थ भूतवादी (मेटीरिअलिस्ट) होता है । चार्वाक मतानुयायी एक प्रत्यक्ष को ही सम्यक् ज्ञान का साधन मानते हैं। उनके मत से ज्ञान के अन्य प्रमाण, अनुमान तथा शब्द आदि अविश्सनीय हैं, क्योंकि वे कभी कभी भ्रमात्मक होते हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञेय वस्तु को छोड़ कर वे अन्य वस्तुओं को सत्य नहीं मानते। प्रत्यक्ष के द्वारा हमें केवल भौतिक संसार का—जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश से बना हुआ है—ज्ञान होता है, क्योंकि इसकी सत्ता का हम प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान करते हैं। संसार की सभी वस्तुएं इन्हीं पञ्च महाभूतों से बनी हुई हैं। मनुष्य में अभौतिक (जो भूतों से न बनी हो) कोई आत्मा विद्यमान है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। मनुष्य भी पञ्च महाभूतों से ही बना हुआ है। जब हम यह कहते हैं कि 'मैं पतला हूं, मैं मजबूत हूं, मैं लंगड़ा हूं,' तब इन वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर एक ही हैं। शरीर में जो चेतना या

चैतन्य दिखाई पड़ता है, वह भी शरीर का गुण है; जो कि भूतों (मैटर) से उत्पन्न हुआ है। यह समझना बिलकुल गलत है कि चूंकि भूतों के अवयव अचैतन्य हैं, अतः उनसे बने हुए पदार्थों में चेतना कहां से आएगी। संसार में ऐसे अनेक उदाहरण देखे गए हैं जिनमें ऐसे गुण जो अवयवों की पृथकता में अविद्यमान थे, वे ही उन्हीं अवयवों के एक विशेष प्रकार से संघात रूप में कर दिए जाने पर विद्यमान हो कर दृष्टिगोचर होने लगे। उदाहरणार्थ यह तो प्रसिद्ध ही है कि पान के पत्तों में लाल रङ्ग का अभाव रहता है । परन्तु वही पान का पत्ता चूना और कत्थे के साथ मिला दिए जाने पर लाल रङ्ग को धारण कर लेता है । इसी प्रकार से भूतों के अवयव एक विशेष प्रकार से मिला दिये जाने पर चेतना-समन्वित शरीर को पैदा करते हैं । शरीर के साथ ही चेतना या आत्मा का भी नाश हो जाता है । अतएव चार्वाकों के मतानुसार जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब कर्मों के फलस्वरूप दुःख या सुख का अनुभव परलोक में करने के लिए कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती, क्योंकि दुःख सुख का अनुभव करने वाला आत्मा तो शरीर के साथ ही जल कर राख हो जाता है ।

इसीलिए ये लोग पुनर्जन्म अथवा मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता को नहीं मानते । इनके मत से ईश्वर की सत्ता भी एक कपोल-कल्पना ही है। चूंकि ईश्वर इनके प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, अतएव वह मिथ्या है । ये लोग संसार की सृष्टि पञ्च महाभूतों के परमाणुओं की समष्टि से मानते हैं, ईश्वर के द्वारा नहीं। अतएव जब ईश्वर न तो जगत् का कर्त्ता ही है और न इसकी सत्ता ही है, तब भला इसको प्रसन्न करने से क्या लाभ ? पूजा-पाठ, यज्ञयागादि से इसे प्रसन्न करना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ? वेदों में तथा धूर्त पुरोहितों में कभी भी विश्वास नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ये लोग जनता के अन्धविश्वास तथा श्रद्धा का दुरुपयोग कर उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं ।

चार्वाक दर्शन के अनुसार इस जीवन का अन्तिम लक्ष्य, खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' है। जैसा कि पहले लिखा जा चका है यही इन लोगों के जीवन का महामन्त्र है। इस जीवन में दुःख भी है, अतएव इसके सुखों से वञ्चित रहना निरी मूर्खता है। अतएव यह प्राणी का कर्तव्य है कि दुःखों से बचने का प्रयत्न करते हुए इस जीवन में जहां तक सुख उठा सके, उठावे। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह सम्प्रदाय, साधारण भोगप्रिय जनता में अधिक लोकप्रिय हो गया है।

जैन-दर्शन

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन बहुत ही प्राचीन है। विद्वानों का मत है कि इसका मूल प्राग् ऐतिहासिक काल से चला आता है। इस धर्म के गुरुओं की दीर्घ परम्परा में—जिनके द्वारा यह धर्म संवर्द्धित होता रहा है—चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिन में अन्तिम तीर्थंकर का नाम वर्द्धमान महावीर था जो महात्मा गौतम बुद्ध के समकालीन थे। इनका नाम तीर्थंकर इसलिए पड़ गया कि ये लोग संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए तीर्थ पार करने योग्य स्थान को करने या बनाने वाले थे। जैन धर्म का इतिहास इन्हीं चौबीस। तीर्थंकरों का इतिहास मात्र समझना चाहिए

चार्वाकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्ञान का एकमात्र साधन है, जैन लोग नहीं मानते हैं। उनका यह मत है कि यदि अनुमान और शब्द प्रमाणों को केवल इसीलिए न माना जाय कि वे कभी कभी भ्रमात्मक सिद्ध होते हैं तो प्रत्यक्ष प्रमाण को भी न मानना चाहिए, क्योंकि यह भी कभी कभी भ्रमात्मक होता है। इसीलिए जैनी प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान और शब्द प्रमाण को भी सम्यक् ज्ञान का साधन मानते हैं। नैयायिक नियमों की शुद्ध कसौटी पर कसा गया ही अनुमान सम्यक् ज्ञान का द्योतक होता है। शब्द प्रमाण तभी प्रामाणिक माना

जाता है जब कि वह आप्त-वाक्य हों। जैनियों का यह मत है कि सर्वदर्शी विमुक्तात्मा तीर्थंकरों के प्रामाणिक उपदेशों के द्वारा ही ऐसी कतिपय आध्यात्मिक वस्तुओं का हमें सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है जो कि हमारे सीमित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता।

इन्हीं त्रिविध प्रमाणों की नींव पर जैनी लोग अपनी सृष्टि की रचना की कल्पना को स्थापित करते हैं। इनके मत से प्रत्यक्ष के द्वारा पञ्च महाभूतों की वास्तविकता का पता लगता है। अनुमान के द्वारा वे आकाश, काल, धर्म और अधर्म में विश्वास करते है। यहां पर धर्म और अधर्म का अर्थ इनका साधारण प्रचलित अर्थ नहीं समझना चाहिए। इन शब्दों का यहां अर्थ क्रमशः गमन और स्थिति का कारण जानना चाहिए। लेकिन यह जड़ जगत्—जो कि पञ्च महाभूतों के परिमाणुओं, आकाश, काल, धर्म और अधर्म से बना हुआ है—ही सब कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा हमें प्रत्येक प्राणी में आत्मा की सत्ता का भी पता चलता है। जब हम प्रत्यक्ष के द्वारा किसी नारंगी के रंग, आकृति, गन्ध आदि गुणों को देखते हैं तब हम यह कहते हैं कि हम नारंगी की सत्ता को भी देख रहे है। उसी प्रकार से जब हम आन्तरिक रूप से दुःख, सुख तथा आत्मा के अन्य गुणों का साक्षात्कार करते है तब हमें मानना पड़ता है कि आत्मा भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जानी जा सकती है। आत्मा शरीर के जड़ पदार्थों से बनी है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चार्वाकानुयायी ऐसा कोई उदाहरण नहीं बतला सकते जिसमें जड़ पदार्थों के समुदाय से बनी हुई वस्तु आत्मा या चैतन्य को उत्पन्न करती हुई देखी गई हो। आत्मा की सत्ता का इस प्रकार से भी अनुमान किया जा सकता है कि यदि कोई चेतन पदार्थ नियन्ता के रूप में न रहे तो जगत् के जड़ पदार्थों के केवल संघात से स्वतः ही शरीर की रचना नहीं हो सकती। चेतना-समन्वित पदार्थ-विशिष्ट के नियंत्रण के अभाव में शरीर और इन्द्रियां इतना नियमपूर्वक काम नहीं कर सकतीं।

जैनियों के अनुसार जितने शरीर हैं उतनी आत्मायें भी हैं। इन लोगों का मत है कि आत्मा केवल मनुष्य और जानवरों में ही नहीं है बल्कि पौधों तथा रज के परमाणुओं में भी है। सब आत्मायें समान रूप से चेतना-समन्वित नहीं होतीं। पौधों में रहनेवाली आत्मा में केवल स्पर्शन चेतना रहती है। मनुष्य तथा अन्य उच्च कोटि के जानवरों में पांचों प्रकार का इन्द्रिय ज्ञान पाया जाता है। लेकिन शरीर में रहने वाली आत्मा का ज्ञान सदा सीमित रहता है इसकी शक्ति भी सीमित ही होती है और यह सब प्रकार के दुःखों की अनुभवकर्ता होती है। परन्तु प्रत्येक आत्मा अनन्त चेतना, शक्ति तथा आनन्द को प्राप्त कर सकती है। ये गुण आत्मा में स्वतः अन्तर्हित होते हैं। ये गुण कर्मों के द्वारा उसी प्रकार से आच्छादित रहते हैं जिस प्रकार सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश बादलों के द्वारा ढका रहता है। संक्षेप में, कर्मों के द्वारा ही आत्मा बन्धन को प्राप्त करती है। अतः कर्मों के निराकरण से आत्मा स्वतन्त्र होकर अपनी स्वाभाविक पूर्णता को पुनः प्राप्त कर लेती है।

तीर्थंकरों की शिक्षा तथा चरित्र से सिद्ध होता है कि आत्मा विमुक्त हो सकती है और उस विमुक्ति का मार्ग भी है। जैन तीर्थंकरों के उपदेश में पूर्ण श्रद्धा, उनके उपदेशों का सम्यक् ज्ञान तथा शुद्ध चारित्र्य—ये तीन बातें आत्मा के बन्धन के निराकरण के लिए आवश्यक हैं। शुद्ध चारित्र्य का अर्थ है अहिंसा व्रत का पालन करना, सत्य तथा अस्तेय का व्यवहार, संयम का पालन तथा विषयों की आसक्ति से दूर रहना। सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य के सम्पन्न करने पर ही विषय-वासनाओं का निरोध हो सकता है तथा उन कर्मों का भी नाश हो जाता है जो आत्मा को अपने बन्धनों से जकड़े रहते हैं।

जैन लोग ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते हैं। उनके यहां तीर्थङ्कर ही—जिन्हें सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान होने का गुण और

गौरव प्राप्त है—ईश्वर माने जाते हैं। वे जीवन के आदर्श रूप में पूजे जाते हैं ।

सब जीवों के साथ सहानुभूति तथा दया रखना जैन धर्म का प्रधान सिद्धान्त है । "अहिंसा परमो धर्मः" ही जैन-दर्शन का परम मूल-मन्त्र है। इसके साथ जैन-दर्शन सब मतों के लिए आदर दिखलाता है। जैन धर्म में अन्य धर्मों अथवा मतों के लिए जो सहिष्णुता पाई जाती है, वह संभवतः अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। जैन दार्शनिकों का यह मत है कि प्रत्येक पदार्थ के, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर, अनन्त रूप हो सकते हैं ; अतएव किसी पदार्थ के प्रति हम अपना जो विचार प्रकट करते हैं वह एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखे जाने पर विशिष्ट अंश में ही सच्चा होता है। अतएव हमें अपने ज्ञान तथा विचार की सीमा को ध्यान में रखते हुए किसी मत-विशिष्ट को ही बिलकुल सच्चा या झूठा नहीं मान लेना चाहिए । सब के मतों का सदा सम्मान करना चाहिए । इसीलिए जैन धर्म के अनुसार सब धर्म किसी अंश में सत्य हैं ।

संक्षेप में जैन-दर्शन यथार्थवादी (रियलिस्टिक) है, क्योंकि यह बाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करता है, यह नानार्थवादी (प्लुरेलिस्टिक) है, क्योंकि यह सब मतों की सत्यता को स्वीकार करता है, तथा यह नास्तिकवादी है क्योंकि यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन की उत्पत्ति महात्मा गौतम बुद्ध के उपदेशों के द्वारा हुई। गौतम बुद्ध इस जीवन में बीमारी, बुढ़ापा, मृत्य तथा अन्य दुःखों को देख कर अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने अपने अनेक वर्ष अध्ययन, तपस्या तथा ध्यान में उस उपाय को ढूंढ़ने के लिए बिताये, जिसके द्वारा इन सांसारिक दुःखों का नाश हो सके।

अन्त में उन्हें "संबोधि" प्राप्त हुई। इस ज्ञान का उपदेश उन्होंने सर्वसाधारण जनता में किया। यह उपदेश चार आर्य सत्य (चत्त्वारि आर्य सत्यानि) के नाम से प्रसिद्ध है। ये चार आर्य सत्य निम्नांकित हैं:—

(१) दु:ख है, (२) दु:ख का कारण है, (३) दु:ख का नाश है, (४) दु:ख नाश का उपाय है।

पहले सत्य को सब लोग किसी न किसी प्रकार से मानते हैं। बुद्ध ने लोगों को यह उपदेश दिया कि संसार की यावत् सत्तात्मक वस्तुओं मे तथा सर्व प्रकार के अनुभवों में दु:ख वर्तमान है। जो वस्तु देखने में आनन्दजनक ज्ञात होती है उसके अन्तस्तल में भी दु:ख निहित है। द्वितीय सत्य के विषय मे बुद्ध का यह कहना है कि ये सांसारिक दु:ख जन्म धारण के कारण से ही होते हैं। पुनर्जन्म का कारण सांसारिक सुखों के प्रति तण्हा या तृष्णा है। हम लोगों की वासना शक्ति ही हमे संसार की ओर खीच ले जाती है। इस वासना शक्ति का कारण हमारा अज्ञान है। यदि हम सांसारिक पदार्थों की अस्थायिता तथा दु:खात्मकता को अच्छी तरह समझ लें तो फिर उनकी प्राप्ति की इच्छा ही न रहेगी। तब जन्म का अवसान हो जायगा तथा इसके साथ ही दु:ख भी नष्ट हो जायंगे। चूंकि दु:ख किसी कारण पर अवलम्बित रहता है; अत: कारण के नष्ट होते ही कार्य-स्वरूप दु:ख का भी नाश हो जाता है। यह तीसरा सत्य है। चौथा सत्य दु:ख के नाश का उपाय है और वह उपाय दु:खों के कारणों को अपने वश में रखना है। इस मार्ग या उपाय को "अष्टाङ्गिक मार्ग" कहते हैं। क्योंकि इसके आठ अंग होते हैं जिनके नाम हैं:—(१) सम्यक् विचार, (२) सम्यक् निश्चय, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् चारित्र्य, (५) सम्यक् जीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् ध्यान और (८) सम्यक् अवधान। ये आठ अंग अज्ञान तथा तृष्णा को दूर करते हैं, आत्मा को प्रकाशित

करते हैं तथा शान्ति को प्राप्त कराते हैं । इस अवस्था की प्राप्ति को निर्वाण कहते हैं ।

उपर्युक्त चार आर्य सत्य ही भगवान् बुद्ध के प्रधान उपदेश समझे जाते हैं । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि भगवान् बुद्ध दर्शन की समस्याओं को हल करने में उतना व्यस्त नहीं थे, जितने कि वे व्यावहारिक जीवन की विषम परिस्थितियों—जिनमें पड़ा हुआ मनुष्य महान् दुःख का अनुभव करता है—को सुलझाने में लगे हुए थे । ऐसे समय जब कि मनुष्य अत्यधिक कष्ट को भोग रहा है, दर्शन की चर्चा करना वे समय को व्यर्थ गंवाना समझते थे । परन्तु फिर भी वे दार्शनिक विषयों की चर्चा अवश्य करते थे । इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में बुद्ध के नाम से संबधित कुछ दार्शनिक सिद्धान्त पाए जाते हैं जो ये है—(१) सभी पदार्थ सापेक्षिक (कन्डिशनल) हैं अर्थात् कोई वस्तु स्वतः विद्यमान नहीं है । (२) अतएव सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं अर्थात् कुछ भी स्थायी नहीं है । (३) इसलिए न तो कोई ईश्वर है और न आत्मा तथा न कोई अन्य स्थायी पदार्थ है । कर्म सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म के बाद दूसरा जन्म इसी प्रकार होता जाता है, जिस प्रकार एक वृक्ष अपने बीजों के द्वारा दूसरे वृक्ष पैदा करता है ।

भगवान् बुद्ध के बाद के अनुयायियों ने इन्हीं बीज रूप दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर बौद्ध-दर्शन के चार बड़े-बड़े सम्प्रदाय स्थापित कर दिए, जिनका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा ।

(१) माध्यमिक या शून्यवाद सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुसार यह संसार मिथ्या (शून्य) है तथा यह सारी सृष्टि भ्रमात्मक है । इसीलिए इसे शून्यवाद भी कहते हैं ।

(२) योगाचार या विज्ञानवाद सम्प्रदाय—इस मत के अनुसार संसार के बाह्य पदार्थ मिथ्या हैं । जो बाह्य ज्ञात होता है वह केवल मस्तिष्क की कल्पना है । परन्तु यह मानना पड़ेगा कि मस्तिष्क सत्य है ।

(३) सौत्रान्तिक सम्प्रदाय—इस मत के अनुसार बाह्य तथा आन्तरिक दोनों पदार्थ सत्य हैं। मस्तिष्क में स्थित किसी पदार्थ की कल्पना के द्वारा हम बाह्य स्थित उसी पदार्थ की सत्यानभूति करते हैं। इसीलिए इस मत को "बाह्यानुमेयवाद" भी कहते हैं।

(४) वैभाषिक सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय सौत्रान्तिक सम्प्रदाय की ही भांति बाह्य तथा आन्तरिक पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है। परन्तु दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि बाह्य पदार्थों के ज्ञान का प्रकार इसके अनुसार दूसरे से विभिन्न है। इस मत को बाह्य प्रत्यक्षवाद भी कहते हैं।

बौद्ध धर्म धार्मिक विषयों में दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त है, जिनके नाम हीनयान और महायान हैं। हीनयान जिसका प्रचार इस समय दक्षिण देशों में अर्थात् लंका, बर्मा तथा श्याम में है, प्राचीन है तथा महायान जिसका प्रचार उत्तर के तिब्बत, चीन तथा जापान देशों में है उससे अर्वाचीन हैं। इन दोनों सम्प्रदायों के धार्मिक सद्धान्तों में महान् अन्तर है, जिसका विस्तृत विवेचन अगले पृष्ठों में दिया जायगा।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के जन्मदाता गौतम है। यह दर्शन यथार्थवादी (रियलिस्टिक) दर्शन है जो कि न्याय की दृढ़ भित्तियों पर अवलम्बित है। इसके अनुसार ज्ञान के चार साधन होते हैं (१)—प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, और (४) शब्द। इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न विषयों का जो साक्षात् ज्ञान पैदा होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य और (२) आन्तर। बाहरी इन्द्रियों अर्थात् आंख तथा कान आदि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे बाह्य प्रत्यक्ष तथा मन जैसे भीतरी इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आन्तर प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष से इतर, साध्य में व्याप्ति से रहने वाले लिङ्ग के द्वारा

जो ज्ञान पैदा होता है उसे अनुमान कहते हैं। लिङ्ग का साध्य में साहचर्य नियम से रहने को ही व्याप्ति कहते हैं। अनुमान के प्रकार में तीन वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक होती हैं। (१) पक्ष—जिसके विषय में हम किसी वस्तु का अनुमान करते हैं, (२) साध्य—जिसका हम अनुमान करते हैं, (३) लिङ्ग या साधन—जिसके द्वारा, जिसकी सहायता से, हम किसी वस्तु का अनुमान करते हैं। यह लिङ्ग साध्य व्याप्ति संबंध से रहता हुआ पक्ष में विद्यमान रहता है। एक उदाहरण के द्वारा ये सारी बातें स्पष्ट हो जायंगी। "यह पर्वत आग वाला है, क्योंकि इसमें धुआं निकलता है, जहां जहां धुआं होता है वहां आग अवश्य होती है।" इस उदाहरण में पर्वत पक्ष, अग्नि साध्य और धुआं लिङ्ग या साधन है, क्योंकि इसके द्वारा पर्वत (पक्ष) में वन्हि (साध्य) का होना पाया जाता है। जहां जहां धुआं होगा वहां वहां आग अवश्य होगी यही साहचर्य नियम व्याप्ति के नाम से पुकारा जाता है। अनुमान प्रकार में व्याप्ति का होना परमावश्यक है।

दो वस्तुओं में उनके रंग, आकृति, नाम आदि के द्वारा जो समानता का ज्ञान होता है उसे उपनाम कहते हैं। जैसे—गाय के समान गवय है। यहां पर गाय के रूप, रंग तथा आकृति से परिचित मनुष्य जंगल मे जाकर उपर्युक्त वाक्य का स्मरण कर यह जान जाता है कि गाय के समान सामने उपस्थित पदार्थ गवय है। यह सादृश्य ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। आप्त पुरुषों के वाक्य को शब्द कहते हैं (आप्त वाक्यं शब्दः)। जब कोई कुशल वैज्ञानिक यह कहता है कि जल हाइड्रोजन और आक्सिजन के विशिष्ट अनुपात में मिला देने से बनता है, तब हम उसकी बात को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि यह वाक्य आप्त वाक्य है। वैज्ञानिक लोग केवल इन्हीं चार प्रमाणों को मानते हैं।

न्याय के अनुसार प्रमाण की चर्चा कर अब हम प्रमेय की ओर आते हैं। ज्ञान की वस्तु को प्रमेय कहते हैं जो निम्नांकित हैं—आत्मा,

शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग। न्याय-दर्शन भी अन्य भारतीय दर्शनों की भांति आत्मा को शरीर, इन्द्रियों तथा उनके विषयों से मुक्त करना चाहता है। इसके अनुसार आत्मा शरीर और मन से बिलकुल पृथक् है। यह शरीर केवल जड़ पदार्थों से बना हुआ है। मन सूक्ष्म, अखण्ड और अणु है। यह आत्मा को सुख और दुःख का अनुभव कराने में साधन है। इसीलिए इसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर सब प्रकार के दुःखों का नाश ही अपवर्ग है। कुछ मनुष्य आनन्द की अवस्था ही को अपवर्ग समझते हैं। परन्तु यह उनकी नितान्त भूल है। क्योंकि बिना दुःख के सुख की स्थिति कही भी नहीं पायी जाती। अतएव दुःखों का विनाश ही अपवर्ग है।

न्याय-दर्शन की विशेषता यह है कि यह ईश्वर की सत्ता को अनेक दृड और अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध करता है। नैयायिक लोग कहते हैं कि ईश्वर इस जगत् की सृष्टि, रक्षा और नाश का कारण है। उसने जगत् को शून्य से नहीं बनाया बल्कि अणु, आकाश, काल आदि को लेकर बनाया। यह संसार इसलिए रचा गया है कि इसका प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार दुःख या सुख का भोग करे। नैयायिकों का ईश्वर सिद्धि का सब से प्रसिद्ध प्रमाण यह है—संसार की सभी वस्तुएँ—पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा और वृक्ष आदि—कार्य हैं क्योंकि ये अणु (टुकड़ों) से बनी हुई हैं। चूंकि संसार की वस्तुओं का कोई न कोई बनाने वाला होता है अतः इनका भी कर्ता कोई अवश्य होगा। मनुष्य का ज्ञान तथा शक्ति सीमित होती है अतः वह इन महान् पदार्थों का कर्ता नहीं हो सकता। अतः सिद्ध है कि इनका कर्ता ईश्वर ही है। ईश्वर ने संसार को किसी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं बनाया। प्रत्युत जनता के लाभ के लिए रचा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि संसार में आनन्द ही आनन्द है और दुःख का नामनिशान नही है।

मनुष्य अपनी स्वतन्त्र आत्मा के द्वारा सुख या दुःख की प्राप्ति करता है । परन्तु ईश्वर की अवधानता और पथ प्रदर्शकता में सब मनुष्य सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर सब दुःख से अन्त मे छुटकारा पाकर मुक्ति को प्राप्त करते है ।

वैशेषिक-दर्शन

इस दर्शन की स्थापना कणाद ऋषि ने की थी, जिनका असली नाम उलूक था । यह न्याय-दर्शन से विशेष रूप से संबंधित है । न्याय की भांति यह भी जीवन का चरम लक्ष्य जीव की मुक्ति को स्वीकार करता है । यह संसार की समस्त वस्तुओं को सात श्रेणियों में विभक्त मानता है। ये सात श्रेणियां हैं:—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

गुण और क्रिया के आश्रय को द्रव्य कहते हैं ; लेकिन यह दोनों से पृथक् है । द्रव्य नौ प्रकार का होता है—(१) पृथ्वी, (२) अप्, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा और (९) मन । इनमें से प्रथम पांच पञ्चमहाभूत कहे जाते हैं और इनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द गुण वर्तमान रहते हैं । इनमें प्रथम चार (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु) इन्हीं वस्तुओं के सूक्ष्म परमाणुओं से बने होते हैं जो अखण्डनीय और अविनश्वर हैं। आकाश, दिक् और काल अदृश्य वस्तुएँ हैं । ये संख्या में एक हैं, नित्य हैं तथा सर्वव्यापी हैं । मन एक नित्य द्रव्य है जो सर्वव्यापी नहीं है लेकिन अणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म तथा छोटा है । आत्मा एक नित्य तथा सर्वव्यापी द्रव्य है जो कि चेतना का आश्रय है । सर्वश्रेष्ठ आत्मा या ईश्वर कार्य जगत् के कर्ता के रूप में अनुमान किया जाता है ।

द्रव्य में रहने वाली वस्तु को गुण कहते हैं । इसमें स्वतः कोई गुण या क्रिया नहीं होती । द्रव्य स्वतः विद्यमान रहता है अथवा

इसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है; परन्तु गुण की सत्ता बिना किसी द्रव्य के आश्रय के कदापि नहीं हो सकती । वस्तुओं के गुणों में कोई क्रिया नही होती । गुण चौबीस प्रकार के होते है, यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार, धर्म और अधर्म ।

गति को क्रिया कहते हैं । गुण की भांति यह भी द्रव्य में ही रहती है । क्रिया पांच प्रकार की होती है, (१) उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना, (२) अवक्षेपण—नीचे फेंकना, (३) आकुञ्चन—सिकुड़ना, (४) प्रसारण—फैलना, और (५) गमन—जाना।

समस्त गायों में एक ऐसा सर्वसाधारण पदार्थ पाया जाता है जिससे वे एक जाति में विभक्त कर, दूसरे से पृथक् कर दी जाती हैं। सब गायों में रहने वाला यह सर्वसाधारण पदार्थ 'गोत्व' है । इसी को नैयायिक लोग सामान्य या जाति कहते हैं । चूंकि 'गोत्व' न तो किसी गाय के पैदा होने से पैदा होता है और न मरने से मरता ही है, अतएव यह नित्य है । अतएव सामान्य वह वस्तु है जो किसी श्रेणी के भिन्न भिन्न व्यक्तियों में समान रूप से रहती है।

वस्तुओं के भेद के आश्रय को विशेष कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा दो वस्तुओं की पृथकता का ज्ञान होता है उसे विशेष कहते हैं। साधारणतया हम दो वस्तुओं के भेद को उसके अंगों द्वारा तथा अन्य गुणों से जान लेते हैं । परन्तु पृथ्वी के दो परमाणुओं के भेद को हम कैसे जान सकते हैं ? उन दोनों परमाणुओं में कोई आत्यन्तिक भेदकता या विशेष अवश्य होगा जिससे वे पृथक् पहचाने जाते हैं । अतएव संसार के नित्य द्रव्यों में रहने वाली विशेषता या विचित्रता को ही विशेष कहते हैं । इसी 'विशेष' पदार्थ की विशिष्ट व्याख्या के कारण इस दर्शन का नाम ही वैशेशिक पड़ गया ।

जिस नित्य संबंध के द्वारा अंग अंगी में; गुण या क्रिया द्रव्य में, और जाति व्यक्ति में रहती है उसे समवाय कहते है । कपड़ा तन्तु में, हरा, मीठा और गन्ध गुण तथा विभिन्न प्रकार की क्रिया द्रव्य में इसी समवाय संबंध के द्वारा रहती हैं। अंग अंगी, जाति व्यक्ति, गुण और द्रव्य में रहने वाले इसी नित्य संबंध को नैयायिकों के द्वारा समवाय की संज्ञा दी गई है ।

किसी वस्तु के अभाव को अभाव कहते है। यहां सर्प नही है, वह कमल लाल नही है, पानी में गन्ध नहीं है—ऐसे वाक्यों में सर्प, ललाई और गन्ध-विशिष्ट वस्तुओं में अभाव की सूचना है । यह अभाव चार प्रकार का होता है । (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव और (४) अन्योन्याभाव । किसी वस्तु के पैदा होने के पहले उसकी अविद्यमानता को प्रागभाव कहते हैं, जैसे कि कुम्भकार के द्वारा बनाये जाने के पहले मिट्टी में घट का अभाव। किसी वस्तु के पैदा होने पर उसके नष्ट हो जाने से उत्पन्न अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं, जैसे घड़े के गिर कर फूट जाने पर उसका अभाव हो जाना । दो वस्तुओं में त्रिकाल—भूत, वर्तमान और भविष्य—में भी बने रहने वाले अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, जैसे वायु में रूप का न होना या खरगोस के सिर पर सींग का न रहना । ये तीनों अभाव संसर्गाभाव कहलाते हैं । दो वस्तुओं में जब एक दूसरे का अभाव होता है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे घट में पट का अभाव और पट में घट का अभाव । यही अन्योन्या-भाव है ।

सांख्य-दर्शन

इस दर्शन के आदि प्रवर्तक कपिल मुनि कहे जाते हैं। यह दर्शन पुरुष तथा प्रकृति नामक दो नित्य पदार्थों को मानता है, जो अपनी सत्ता के सम्बन्ध में एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हैं । पुरुष एक बुद्धि-समन्वित पदार्थ है, चैतन्य जिसका गुण नहीं बल्कि स्वरूप है । यह शरीर, इन्द्रिय और मन सब से पृथक् है । यह समस्त संसार के

विषयों से परे है । यह नित्य चैतन्य है जो संसार के निखिल कार्य कलापों का द्रष्टा है, परन्तु न तो स्वयं कोई कार्य करता है और न परिवर्तन को ही प्राप्त होता है। पुरुष प्रकृति के द्वारा उत्पन्न किये गये पदार्थों का भोक्ता होते हुए भी पुष्कर पलाशवत् सदा निर्लेप रहता है। सांख्य के पुरुष की दशा उस क्रियाहीन परन्तु बुद्धिमान् आलसी पुरुष की भांति है जो संसार के भोगों को भोगता हुआ भी न तो सांसारिक कार्यों में लिप्त होता है और न उन्हें करना ही चाहता है । सांख्याचार्यो का यह मत है कि विभिन्न शरीरों के अनुसार पुरुष भी भिन्न होते हैं, क्योंकि संसार में कुछ आदमी दुःखी, कुछ सुखी हैं, कुछ मरते है तथा कुछ जीते हैं। अतएव शरीर की बहुलता के साथ ही साथ पुरुष की बहुलता भी माननी पड़ती है ।

प्रकृति को कर्त्री मानते हैं, अतएव यह सृष्टि का आदि कारण है। यह जड़, अचेतन, तथा नित्य पदार्थ है जो सदा परिवर्तनशील है तथा इसका उद्देश्य आत्म तृप्ति है । सत्व, रज और तम—ये प्रकृति के तीन अंग हैं जिन्हें प्रकृति सदा साम्यावस्था में बनाये रखती है। ये तीनों गुण नाम से पुकारे जाते हैं । ये प्रकृति के गुण या उपाधि नहीं हैं प्रत्युत उसके आवश्यक अङ्ग हैं । इनके द्वारा उसी प्रकार प्रकृति की सत्ता स्थित है जिस प्रकार तीन तन्तुओं से रस्सी की सत्ता । संसार की समस्त वस्तुओं में पाये जाने वाले सुख, दुःख तथा उदासीनता के गुणों के द्वारा ही इन त्रिविध गुणों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। इस जगत् में कार्य कारण के द्वारा उत्पन्न किया जाता है, जैसे तैल कार्य है, अतएव उसके कारण रूप बीजों में तेल के परमाणुओं की सत्ता अवश्य होगी । जगत् के समस्त पदार्थ कार्य हैं जिनमें सुख, दुःख तथा उदासीनता के गुण वर्तमान हैं । "इसलिए प्रकृति या प्रधान में—जो इन पदार्थो का आदि कारण है—सत्व, रज तथा तम के अंशों का होना आवश्यक है, क्योंकि इनकी प्रकृति क्रमशः सुख, दुःख तथा उदासीन की है ।

संसार की सृष्टि का प्रारम्भ पुरुष और प्रकृति के संयोग से होता है। यह संयोग प्रकृति की साम्यावस्था को विकृत कर देता है और इसे क्रिया में प्रवृत्त कर देता है। सांख्य के अनुसार सृष्टि का क्रम निम्नांकित है:—

प्रकृति से इस महान् ब्रह्माण्ड का बीज पैदा होता है इसीलिए इसे महत् कहते हैं। पुरुष का चैतन्य इस महत् में प्रतिबिम्बित होकर इसे भी चेतना-सम्पन्न बना देता है। यह प्रकृति की निद्रा का उद्‌बोधक है। इसलिए इसे बुद्धि भी कहते हैं; बुद्धि के समधिक परिवर्तन से ही अहंकार नामक पदार्थ पैदा होता है। इसी से सम्बन्धित हो कर पुरुष अपने को कर्ता मानता है जो वास्तव में वह नहीं है। अहंकार के साथ सत्व की समधिक मात्रा के मिश्रण से पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों और मन (जो उभयेन्द्रिय है) का प्रादुर्भाव होता है। तमोगुण की प्रधानता होने पर अहंकार पंच तन्मात्रा को पैदा करता है जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के मूल तत्त्व हैं। इन पांच तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, अप् और पृथ्वी इन पंच महाभूतों के तत्वों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन में पचीस पदार्थ पाए जाते हैं। इनमें से पुरुष को छोड़ कर शेष पदार्थ प्रकृति के ही अन्तर्गत होते हैं। प्रकृति सब पदार्थों का कारण है; परन्तु इसका कोई कारण नहीं है। महत्, अहंकार और पंच तन्मात्रा कुछ कार्यों के कारण हैं और कुछ कारणों के स्वयं कार्य हैं। एकादश इन्द्रियां और पंच महाभूतों के तत्त्व कुछ कारणों के कार्य हैं; परन्तु स्वयं किसी के कारण नहीं हैं। पुरुष न तो किसी पदार्थ का कारण (प्रकृति) है और न कार्य (विकृति) ही है।

ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शन का मत विशेष महत्त्व रखता है। सांख्य-दर्शन की प्रधान प्रवृत्ति ईश्वर की सत्ता को न मानने की है। इसके अनुसार ईश्वर की सत्ता किसी भी प्रकार से प्रमाणित नहीं की जा सकती। सृष्टि की रचना के लिए इसे

ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि प्रकृति ही संसार की उत्पत्ति का आदि कारण है। नित्य और अपरिवर्तनशील ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारण में भी परिवर्तन अवश्य होगा। सांख्य-दर्शन के कुछ लेखक और टीकाकार इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि साख्य में ईश्वर की सत्ता की गुंजाइश है ; परन्तु वह एक साक्षी के रूप में है, संसार के कर्त्ता के रूप में नहीं।

योग-दर्शन

इस दर्शन के संस्थापक महात्मा पतंजलि हैं। इस दर्शन का सांख्य-दर्शन से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। यह सांख्य-दर्शन की प्रमाण मीमांसा तथा तत्त्व मीमांसा को स्वीकार करता है तथा उसके पचीस गुणों को मानते हुए ईश्वर नामक पदार्थ को और मानता है। इस दर्शन का प्रधान कार्य योग के अभ्यास से विवेकज्ञान की प्राप्ति करना है जिससे अन्ततोगत्वा मुक्ति मिल सके। इस दर्शन के अनुसार विभिन्न चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं (योगः चित्तवृत्ति निरोधः)। पांच प्रकार की चित्तभूमि होती है :-

(१) क्षिप्त—इसमें मन विषयों में लगा रहता है।

(२) मूढ़—इसमें मन मुग्धावस्था में रहता है जैसा कि निद्रावस्था में होता है।

(३) विक्षिप्त—इसमें चित्त कुछ कम उद्विग्न रहता है। चित्त की इन तीन अवस्थाओं में योग का अभ्यास करना संभव नहीं है।

(४) एकाग्र—इसमें मन ध्यान की विशिष्ट वस्तु पर सतत लगा रहता है।

(५) निरुद्ध—इस अवस्था में ध्यान की क्रिया भी निरुद्ध या बन्द हो जाती है। चित्तभूमि की ये दो अन्तिम अवस्थाएँ ही क्रिया के निष्पादन में सहायक होती हैं।

योग या समाधि भी दो प्रकार की होती है :-(१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात । जब ध्यान की विषयभूत वस्तु के ऊपर मन पूर्णतया एकाग्र हो जाता है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में ध्यान के विषय का ज्ञान सदा बना रहता है। जब ध्यान की विषयभूत वस्तु का बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, तब मानसिक व्यापार बन्द हो जाते हैं । उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। अतः इसमें ध्यान के विषय के ज्ञान का अभाव हो जाता है।

योग के आठ अंग होते हैं जिनके पालन से मनुष्य का कल्याण होता है । ये आठ अंग हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि।

हिंसा, असत्य, चौर्य्य, तृष्णा तथा लोभ से निवृत्ति को यम कहते हैं । पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वराराधन आदि सद्‌गुणों के उपार्जन को नियम कहते हैं । दृढ़ तथा आराम देनेवाले आसनों को करना आसन कहलाता है । रेचक, पूरक और कुम्भक की क्रिया से प्राण-वायु को रोकना प्राणायाम है । तज्जन्य विषयों से इन्द्रियों को हटा कर अपने वश में रखना प्रत्याहार है । किसी विषय-विशिष्ट पर मन को एकत्र करना धारणा कहलाता है । बिना किसी व्यवधान के किसी विषय पर सतत ध्यान करना ध्यान है । समाधि उस अवस्था को कहते हैं जब चेतना ध्यान के विषय में मग्न होकर अपनी सत्ता खो बैठती है ।

निरीश्वर सांख्य से पृथक् करने के लिए योग-दर्शन सेश्वर दर्शन भी कहा जाता है, क्योंकि यह ईश्वर की सत्ता को मानता है। यह ईश्वर को ध्यान तथा आत्मानुभव की पराकोटि मानता है। इसके मत से ईश्वर शाश्वतिक, सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा तथा निर्दोष है। योग-दर्शन ईश्वर की सत्ता के विषय में यह प्रमाण देता है—जिस वस्तु में कोटि (डिग्री) होती है उसमें पराकाष्ठा भी होती है। ज्ञान की कोटियां हैं, अतः इसकी पराकाष्ठा भी है । अतएव कोई

ऐसी वस्तु होगी जो पूर्ण ज्ञानवान् होगी। यह पूर्ण ज्ञान जिसमें होगा वही ईश्वर है ।

मीमांसा-दर्शन

मीमांसा या पूर्व मीमांसा दर्शन के संस्थापक महर्षि जैमिनि थे। इस दर्शन का सर्वप्रधान कार्य वैदिक यज्ञयागादि की रक्षा करना है । वेदों की प्रामाणिकता ही यज्ञयागादिकों का आधार है, अर्थात् वेदविहित होने के कारण ही यज्ञयागादि किए जाते हैं । अतएव मीमांसा वेदों को अपौरुषेय मानती है । इसके अनुसार वेद नित्य और स्वतः प्रामाण्य हैं । लिखे गए वेद तो तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के अनुभव हैं। वेदों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए मीमांसा ने प्रमाण-शास्त्र का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है तथा बड़े परिश्रम के साथ यह सिद्ध किया है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं।

वेद लोगों को जो काम करने का उपदेश देते हैं वही धर्म है, वही ठीक है । वे जिस वस्तु को मना करते हैं वह अधर्म है। इसलिए धर्म को करना और निषिद्ध कार्य को छोड़ देना यही मनुष्य का कर्तव्य है । वेद-विहित कार्यों को धन, जन की प्राप्ति की इच्छा से नहीं करना चाहिए, बल्कि अपना कर्तव्य समझ कर ही उन्हें करना चाहिए । नित्य कर्मों को निष्काम रूप से करने से—जो केवल ज्ञान और संयम से ही शक्य है—कर्म के बन्धन नष्ट हो जाते हैं और मृत्यु के बाद मुक्ति मिलती है । मीमांसा के प्राचीन ग्रन्थों में मुक्ति की कल्पना शुद्ध आनन्द या स्वर्ग के रूप में की गई है। परन्तु मीमांसा के अर्वाचीन ग्रन्थों में इसकी कल्पना जन्म का नाश अथवा दुःखों से मुक्ति के रूप में की गई है ।

मीमांसकों के मत से परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है । क्योंकि यदि आत्मा ही अनित्य रहा, तब मृत्यु के बाद किए जाने वाले कर्म सब व्यर्थ हो जायंगे । मीमांसक जैनों की भांति आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण देते हैं । परन्तु वे चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं मानते । उनके अनुसार

आत्मा जब शरीर के साथ संयुक्त होती है तभी चेतना का जन्म होता है। विमुक्तात्मा—जो शरीर से रहित है—चेतना से भी विरहित होती है।

मीमांसा दर्शन के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। पहिला वह है जिसका संस्थापक प्रभाकर था। इसे गुरुमत भी कहते हैं। दूसरा सम्प्रदाय कुमारिल भट्ट का है। इसे भाट्ट सम्प्रदाय के नाम से भी पुकारते है। पहले सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान के साधन अर्थात् प्रमाण पाँच प्रकार के है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द और (५) अर्थापत्ति। इनमे से प्रथम चार प्रमाण तो वे ही हैं जो न्याय शास्त्र में स्वीकृत किए गए हैं तथा जिनका वर्णन पहिले किया जा चुका है। अर्थापत्ति उसे कहते हैं जब हम किसी वस्तु में विरोध को देख कर उसके परिहार के लिए किसी अर्थान्तर की कल्पना करते हैं। जैसे 'मोटा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता।' यहाँ पर दिन में देवदत्त नहीं खाता परन्तु फिर भी वह मोटा होता जाता है, यह विरोध दिखाई पड़ता है। अतएव इस विरोध को दूर करने के लिए रात्रि-भोजन की कल्पना करनी पड़ती है। इसे ही अर्थापत्ति कहते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार इन पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रमाण और होता है। उसे अनुपलब्धि कहते हैं। इनका कहना है कि किसी घर में जाकर जब कोई कहता है कि 'इस घर में पट का अभाव है' तब इस पटाभाव का ज्ञान उसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं होता। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तभी होता है जब उस वस्तु के द्वारा हमारी इन्द्रिय को उत्तेजना मिलती है। परन्तु पटाभाव के संबंध में यह उत्तेजना नहीं मिलती है और पटाभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। अतः पटाभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि के द्वारा ही होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर मीमांसा शास्त्र संसार की सत्यता में विश्वास रखता है। इसीलिए यह यथार्थवादी (रियलिस्टिक) है।

यह आत्मा की अमरता को भी मानता है । परन्तु यह इस बात को नहीं मानता कि संसार की रचना करने वाला कोई ईश्वर भी है । इसके अनुसार संसार की सब वस्तुएं आत्मा के कर्मों के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न होती हैं । अतएव मीमांसक ईश्वर के स्थान पर कर्म को ही जगत् की सृष्टि का कारण मानते हैं । प्राचीन आचार्यों ने 'कर्मेति मीमांसकाः' कह कर इस उपरियुक्त सत्य की पुष्टि की है। कर्म का नियम संसार में सर्वत्र व्याप्त है । मीमांसक लोग यह भी मानते हैं कि जब कोई मनुष्य कोई यज्ञयागादिक करता है तब उसकी आत्मा में अपूर्व नामक वस्तु पैदा हो जाती है जो कर्मों के फल को भविष्य में उत्पन्न करती है । इसी अपूर्व के कारण मनुष्य जन्मान्तर में अपने कर्मों के फलों को भोगता है ।

संक्षेप में वेदों की अपौरुषेयता को सिद्ध करते हुए वैदिक यज्ञयागादिकों का विधान करना ही मीमांसा-दर्शन का प्रधान कार्य है ।

वेदान्त-दर्शन

भारतीय दर्शनों में वेदान्त-दर्शन सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है, यह उक्ति अत्युक्ति कदापि नहीं कही जा सकती । सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० पाल डायसन का मत है कि भारत में भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों के अनुयायियों की यदि गणना की जाय तो उसमें वेदान्त दर्शन के अनुयायियों की संख्या नब्बे प्रतिशत से कम न होगी । सच पूछा जाय तो अपनी प्रसिद्धि के कारण वेदान्त शब्द समस्त दर्शन का पर्यायवाची शब्द हो गया है । संभवतः इसीलिए 'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' इस सुभाषित के लेखक ने दार्शनिक के अर्थ में ही वेदान्ती शब्द का प्रयोग किया है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ वेद का अन्त है । अतएव वेदान्त दर्शन का अर्थ उस दर्शन से है जो वेद के पिछले भागों—उपनिषदों—से सम्बन्ध रखता है। वेदान्त दर्शन का बीज उपनिषदों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ऋग्वेद के

पुरुष सुक्त में वेदान्त दर्शन के मूल तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसका विस्तृत विवरण उचित स्थान पर प्रस्तुत किया जायगा। वेदान्त दर्शन को व्यवस्थित रूप प्रदान करने का सारा श्रेय वादरायण व्यास को है जिनका ब्रह्मसूत्र इस दर्शन का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसी ग्रन्थ की टीकाएं लिख कर विभिन्न आचार्यों—शंकर, रामानुज, माध्व, बल्लभ आदि—ने अपने विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना की है। यों तो वेदान्त दर्शन के बारह सम्प्रदाय हैं, परन्तु दो ही सम्प्रदाय—शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य द्वारा संस्थापित—प्रधान हैं। पहिले का नाम अद्वैत तथा दूसरे का विशिष्टाद्वैत है। यहाँ पर क्रमशः इन्हीं दोनों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है; जीव ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः"—यह इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है। शंकराचार्य का कहना है कि इस संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब ब्रह्म है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म)। यह आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म), तथा यहां पर अनेकत्व नहीं है (नह नानास्ति किञ्चन), अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व सत्य नहीं है। यह आत्मा या ईश्वर ही केवल सत्य है तथा यह सत्, चित् तथा आनन्द का भण्डार है। इन्हीं मूल सिद्धान्तों की नींव पर शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सम्प्रदाय की स्थापना की है।

शंकर का मत है कि जब ब्रह्म ही केवल सत्य है तब यह सृष्टि कदापि सत्य नहीं हो सकती। अतएव उसको ब्रह्म की माया से प्रतिबिम्बित मात्र समझना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब संसार असत्य है तब सत्य क्यों ज्ञात होता है? इसके उत्तर में शंकराचार्य का कहना है कि यह भ्रम माया अथवा अविद्या के कारण होता है। संसार में रज्जु को देख कर सर्प की, तथा शुक्ति में रजत की भावना होती है। परन्तु यह भावना असत्य है क्योंकि यह हमारे अज्ञान के कारण पैदा होती है। हमारा यह अज्ञान सत्य वस्तु के

आधार (रज्जु तथा शुक्ति) को छिपा देता है और उसके स्थान पर अन्य की प्रतीति करा देता है । इसी प्रकार से हम संसार को सत्य समझने लगते हैं । परन्तु वह वास्तव में सत्य है नहीं । सत्य की यह भ्रमात्मक प्रतीति हमें माया या अविद्या के द्वारा होती है। जैसे जादूगर के जाल में चतुर मनुष्य नही फँसता, उसी प्रकार से ज्ञानी पुरुष इस माया के प्रपञ्च में नही फँसते ।

शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके द्वारा असत्य वस्तु का सत्य ज्ञान होने लगता है । अतएव माया को ब्रह्म से उसी प्रकार पृथक् नही किया जा सकता, जिस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति को अग्नि से । ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि क्या ब्रह्म कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न नहीं है ! इसके उत्तर में शंकर कहते हैं कि जब तक मनुष्य संसार की सत्यता में विश्वास करता है तब तक ब्रह्म को वह कर्त्ता के रूप में देखता है। परन्तु जब वह जान लेता है कि वास्तव में यह जगत् असत्य है तब वह ब्रह्म को कर्त्ता नहीं मानता। शंकर के मत से व्यावहारिक दृष्टि से संसार सत्य है। ब्रह्म इसका कर्ता, पालयिता और संहर्ता है । उसमें सर्वद्रष्टा तथा सर्वव्यापी होने के गुण भी वर्तमान हैं। अतएव ऐसी दशा में वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है । परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से संसार असत्य है, अतएव ईश्वर इसका कर्ता नही है । इस दृष्टि से वह निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म माना जाता है ।

पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति अविद्या के निराकरण के द्वारा ही हो सकती है और यह निराकरण वेदान्त के द्वारा ही हो सकता है। मनुष्य को अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में रखकर किसी सद्गुरु के यहाँ पढ़ते हुए सत्य की प्राप्ति करनी चाहिए । धीरे धीरे उस मनुष्य को "मैं ही ब्रह्म हूँ (अहम् ब्रह्म)" यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस ज्ञान की प्राप्ति ही इस सांसारिक बन्धन से छुटकारा है। यह विमुक्तात्मा ब्रह्म की भाँति आनन्दमय हो जाता है। इस-

लिए शंकर ज्ञान के ऊपर विशेष जोर देते हुए कहते हैं कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय का नाम विशिष्टाद्वैत है। यह शंकराचार्य के अद्वैत से कुछ विशिष्टता लिए हुए है, इसीलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। रामानुज के मत से यद्यपि केवल ब्रह्म ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है फिर भी ब्रह्म के भीतर अनेक सत्य पदार्थ निहित है। रामानुज के अनुसार संसार की सृष्टि तथा रचे हुए पदार्थ सब इसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ब्रह्म। इसीलिए रामानुज का मत अद्वैत नहीं है बल्कि विशिष्ट अद्वैत है। चेतनात्मक आत्मा तथा अचेतनात्मक जगत् से समन्वित केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस ब्रह्म के भीतर अनेक अचेतनात्मक पदार्थ (अचित्) तथा चेतनात्मक आत्मायें रहती हैं। ब्रह्म सर्वद्रष्टा तथा सर्वव्यापी आदि गुणों से समन्वित है। जिस प्रकार से मकड़ा अपने शरीर में से ही बुन कर जाला तैयार करता है, उसी प्रकार से ब्रह्म अचित् पदार्थ से—जो उसमें बाह्य रूप में विद्यमान है—जगत् की सृष्टि करता है। आत्मा अणु रूप है, चेतन है तथा स्वयं प्रकाश है। प्रत्येक आत्मा कर्म के अनुसार शरीर को प्राप्त करता है। शरीर का त्याग ही आत्मा की मुक्ति समझी जाती है। अज्ञान के द्वारा उत्पन्न कर्म ही बन्धन का कारण होता है। विमुक्तात्मा ब्रह्म के समान हो जाती है, परन्तु ब्रह्म के तद्रूप नहीं हो जाती।

संक्षेप में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के मतों में यही अन्तर है। जहाँ शंकर अद्वैत के पक्षपाती हैं वहाँ रामानुज के अद्वैत में एक प्रकार की विशिष्टता पायी जाती है। परन्तु दोनों का यह मतभेद केवल तत्त्व मीमांसा में ही पाया जाता है।

अध्याय ६

भारत को धार्मिक भावना

भारत धर्म-प्रधान देश है। संसार में धर्म तथा दर्शन का ऐसा महत्व अन्यत्र नही पाया जाता। यही कारण है कि भारतवर्ष सब देशों का सिरमौर समझा जाता था। शायद ही ऐसा भारतीय हो जो सात्विक प्रवृत्ति का होते हुए धर्म के अथाह समुद्र में गोता न लगाता हो। स्वप्न में भी वह शरीर से धार्मिक भावना को पृथक् नहीं कर सकता। धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है जिसके विभिन्न अर्थ समझे जाते हैं। परन्तु यहां पर धर्म शब्द का प्रयोग साधारण भाव में किया गया है। ईश्वर तथा पारलौकिक बातों को ही धर्म के नाम से व्यवहृत किया गया है। भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म वैदिक धर्म के नाम से विख्यात था। इस धर्म में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। इसमें यज्ञयागादि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। दैनिक कार्य में भी पंच-यज्ञ का विधान पाया जाता है। सर्वसाधारण को इन यज्ञ-विधानों के प्रति बड़ी श्रद्धा थी और ये कार्य स्वर्गप्राप्ति के साधन समझे जाते थे। इन्द्र, विष्णु, सोम, अग्नि, वरुण, उषा आदि देवताओं की पूजा बड़े आदर के साथ की जाती थी। ऋग्वेद में ऐसे मंत्र भरे पड़े हैं जो इन देवताओं की प्रार्थना में लिखे गए थे। अग्नि तथा सोम को मुख्य स्थान प्राप्त था। संहिता तथा ब्राह्मणों के समय में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। उपनिषद् काल से इसके स्थान में ज्ञान-काण्ड ने लोगों के ध्यान को आकृष्ट किया। ईश्वर, आत्मा, जीव, संसार आदि की सत्ता पर विचार होता रहा। ऋषियों ने भिन्न भिन्न दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाया। दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए जनता ने अपना समय खर्च किया, परन्तु ईश्वर तथा जीव के गूढ़ रहस्य को समझने में साधारण जन

असमर्थ रहे। कालान्तर में वैदिक यज्ञों ने जनता के हृदय में घृणा पैदा कर दी। अतएव वैदिक धर्म का प्रचार क्रमशः कम होने लगा। जनता व्याकुल थी और वह किसी नए मार्ग पर चलना चाहती थी। ऐसे ही समय में बुद्ध तथा महावीर का जन्म हुआ जिन लोगों ने जनता को नये धर्म की शरण लेने की प्रेरणा की।

ईसा पूर्व छः सौ वर्ष में नैपाल राज्य की तराई में कपिलवस्तु नामक नगर में गौतम का जन्म हुआ था। बालकपन से संसार की अनित्यता को देख कर उनका चित्त चंचल और खिन्न रहता था। अतएव संसार को छोड़ कर उन्होंने तपस्या के बल पर ज्ञान प्राप्त किया और बुद्ध नाम से विख्यात हुए। सर्वप्रथम काशी के समीप सारनाथ से अपने धर्म का उपदेश (धर्म परिवर्तन) करना प्रारम्भ किया। उनका धर्म मध्यम मार्ग के नाम से पुकारा जाता है। बुद्ध का कथन था कि भोग-विलास तथा कठोर तपस्या के बीच का मार्ग ही कल्याणकारक है। बौद्ध धर्मानुयायी वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। प्राचीन वर्णाश्रम धर्म से आस्था जाती रही। केवल चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग आदि का बुद्ध धर्म में बड़ा आदर था। सभी को 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि तथा धर्म्मं शरणं गच्छामि' की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। प्रारंभिक बौद्ध धर्म को हीनयान कहते थे। ईसा पूर्व शताब्दियों में शासकों ने इसे प्रश्रय दिया। पर भागवत धर्म प्रभाव से इसमें नवीन महायान मत पैदा हो गया। महायान सम्प्रदाय वाले बुद्ध को देवता समझ कर पूजा करते थे। भगवान बुद्ध की अनेक मूर्त्तियां बनीं और साकार उपासना होने लगी। महायान भक्ति प्रधान बन गया। पीछे चल कर बुरे विचारों के कारण इस धर्म का ह्रस होने लगा। भारत के साथ साथ बुद्ध धर्म का प्रचार चीन, एशिया के पूर्वी देश तथा लंका तक फैला। परन्तु यह धर्म बहुत काल तक जीवित न रह सका। बुरी भावनाओं ने समाविष्ट होकर इसके महत्व को नष्ट कर दिया

और जनता पुन: अपने वैदिक धर्म की ओर झुकने लगी। अशोक तथा कनिष्क ने इसे भारत से बाहर भी प्रसारित किया था, परन्तु चौथी सदी से गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से उसका ह्रास अवश्य हुआ। गुप्त सम्राट् वैष्णवधर्मानुयायी थे, परन्तु अन्य धर्मो की ओर उनकी कुदृष्टि न थी। सभी राजा सहिष्णु थे। ब्राह्मणधर्म का तो बोलबाला हो गया, लेकिन बौद्ध धर्म को किसी प्रकार क्षति न पहुँच सकी। सातवीं सदी से हिन्दू तथा बौद्धधर्म का समान रूप से प्रचार रहा। ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि भारत में सर्वत्र ही काफी भिक्षु मठ में रहा करते थे। उत्तरी भारत के प्रधान स्थानों में उसने बौद्ध विहार देखा था। हर्ष पहले हिन्दू धर्म को मानने वाला था, पर पिछले समय में बौद्ध हो गया। नवीं तथा दसवीं सदी में पाल वंशी नरेशों के शासनकाल में बौद्धधर्म की बड़ी उन्नति हुई। नालंदा में सहस्रों भिक्षु अध्ययन करते थे। उन्होंने विक्रमशीला की संस्थापना की थी। बुद्धधर्म राजधर्म था तो भी तत्कालीन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि राजा ब्राह्मणों को सदा दान दिया करता था। जहाँ तक मूर्तियों का सम्बन्ध है, हिन्दू प्रतिमायें अधिक संख्या में बनती रहीं। देखा जाय तो स्पष्ट पता लगता है कि पाल युग मे धार्मिक स्थिति ठीक गुप्तकाल से विपरीत थी। गुप्तकाल में वैष्णवमत राजधर्म का स्थान ले चुका था, पर बौद्धधर्म की बढ़ती होती रही। पालयुग में बौद्धधर्म को राजकीय सहायता प्राप्त थी, परन्तु हिन्दूधर्म की भी उन्नति होती जा रही थी। हिन्दूधर्म में पंच-देव की पूजा की प्रधानता हो गयी थी। पालकाल में ही वज्रयान की उत्पत्ति हुई जो कालचक्रयान में परिवर्तित हो गया। शाक्त मत का प्रभाव उस पर पड़ा जिसका स्वरूप सर्वथा के लिए बदल गया। बौद्धधर्म में तंत्र-मंत्र तथा शक्ति का समावेश किया गया। पूर्वी बंगाल मंत्रयान का केन्द्र था, पर इतना होते हुए भी बुद्धधर्म का ह्रास हो रहा था। बौद्ध शासक ब्राह्मणों को दान दे रहे थे। हिन्दू मूर्तियों में बौद्ध मूर्तियाँ घुल मिल रही थीं। हिन्दुओं ने अवतार की कल्पना

में बुद्ध को भी स्थान दिया । पालवंश के बाद सेन नरेशों ने पंच देवों की पूजा आरम्भ कर दी थी। कोई भी राजधर्म न था। बारहवीं सदी में वही अवस्था थी जो आजकल उत्तरी भारत में है।

बुद्ध के समकालीन भारत में जैन-मत का भी प्रचार रहा। महावीर वैशाली के राजकुमार थे। कर्मकाण्ड के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार करके महावीर ने जनता को अपनी ओर खींचा। लोगों ने अहिंसा का स्वागत किया। वेदों की पशुहिसा के विधान को 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त ने नष्ट कर दिया। जैनों ने भी वेदों की प्रामाणिकता को न माना । इस धर्म ने छः द्रव्य—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म, आदि को श्रेय बतलाया । जैनी घोर तपस्या के समर्थक थे। इनके यहां चौबीस तीर्थकरों का जन्म माना जाता है । जैनधर्म मे मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। यों तो भारत में जैनधर्म का प्रचार बहुत हुआ, पर बौद्धधर्म के समान नही। इस धर्म को किसी राजा ने उस तरह नहीं अपनाया। जैनधर्म का प्रचार दक्षिण तथा पश्चिमी भारत में ही सीमित रहा।

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि वैदिक धर्म को हटा कर जैन तथा बौद्धधर्मावलम्बी अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। यद्यपि इनके कारण वैदिक धर्म का ह्रास हुआ, जनता इन नए मार्गों पर चलने लगी, पर सदा के लिए यह बात न हो पायी। कर्मकाण्ड को छोड़ कर ज्ञान से लोगों को पूरा संतोष नहीं हुआ। गूढ़ तत्वों का समावेश उनके शुष्क मस्तिष्क में न हो सका। आत्मा-परमात्मा के वाद-विवाद को निरर्थक समझते थे । जनता भक्ति की प्रतीक्षा में थी। ऐसे समय में भक्ति-प्रधान भागवत धर्म का उदय हुआ। महाभारत में नारायणीय मत भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भक्ति को प्रधान तथा मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है। यद्यपि यह धर्म प्राचीन काल से प्रारम्भ हो चुका था, पर ईसा की तीसरी सदी (गुप्त राजाओं) से भागवत धर्म की उन्नति हुई।

यूनानी मेगस्थनीज ने भी इस धर्म का वर्णन किया है। पाणिनि ने भी वासुदेव का नाम उल्लिखित किया है। इन कारणों से भागवत धर्म की प्राचीनता मानने में सन्देह नही होता । बौद्ध धर्म पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। संन्यास तथा निवृत्ति-प्रधान हीनयान से कर्म तथा प्रवृतिभाव की उत्पत्ति महायान के रूप में हुई। भक्ति की प्रधानता होने से बुद्ध की साकार प्रतिमा की पूजा होने लगी। अवतारवाद के सिद्धान्त को बौद्धों ने अपनाया और चौबीस अवतार मानने लगे । गुप्त लोग ब्राह्मण धर्म को मानने लगे । अश्वमेध यज्ञ होने लगे । भक्ति से भरी जनता देवताओं की पूजा करने लगी। वैष्णव धर्म का सर्वत्र प्रचार होने लगा। राजा 'परम भागवत' की पदवी से विभूषित किए गए । वैदिक धर्म राजकीय धर्म हो गया, अतएव ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय आवश्यक था । भागवत धर्म पर महायान धर्म का प्रभाव पड़ा और 'अहिंसा' को सभी ने अपनाया। यज्ञ आदि से लोग विमुख होने लगे । बौद्ध मूर्त्तियों की तरह हिन्दू मूर्त्तियाँ भी बनने लगीं। कला के केन्द्रों में, विशेषतः सारनाथ में गुप्तकाल से ब्राह्मण मूर्त्तियाँ भी काफी संख्या में तैयार होने लगीं। अशोक की तरह भारत के धार्मिक इतिहास में गुप्त नरेशों का बड़ा हाथ था। वैष्णव धर्म के विकास के साथ देवताओं की पूजा धूम-धाम से होने लगी। उस समय के लेखों से यह प्रकट होता है कि विष्णुमय क्षेत्र हो गया था। मंदिरों का निर्माण हुआ। भगवान विष्णु के विभिन्न चौबीस अवतारों की पूजा होने लगी । वराह, चतुर्भुजी तथा शेषशायी विष्णु आदि मूर्त्तियाँ उसके जीते-जागते उदाहरण हैं ।

प्रायः साधारण व्यक्ति हिन्दू के अवतारवाद सिद्धान्त की हँसी उड़ाते हैं । उनके विचार में यह तर्करहित बात समझी जाती है। परन्तु वैज्ञानिक लोगों ने इसका अर्थ ठीक समझा है । अवतारवाद से तो सृष्टि के वैज्ञानिक विकास का भाव प्रकट होता है। मच्छ, कच्छ, जीव के उस समय की स्थिति को बतलाते हैं जब

सृष्टि जलमय थी। जल से जीव स्थल पर भी आने लगे। छोटे जीव के बाद पशु और मनुष्य का मिश्रित रूप आया। शनैः शनैः मनुष्य का पूर्ण विकास हो गया और वह बुद्धि का प्रयोग करने लगा। इन समस्त अवस्थाओं में ईश्वरीय सत्ता का कोई न कोई प्रतीक सामने आया और लोगों ने उसे अवतार का नाम दिया। यही कारण है कि यह सिद्धान्त नितांत ग्राह्य और विश्वसनीय है। यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वैष्णव धर्म के अभ्युदय काल में भी बौद्ध तथा जैन धर्म के अनुयायी वर्तमान थे। राजाओं का यह कार्य न था कि अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों को देश से निकाल दे। उनमें धार्मिक सहिष्णुता का भाव भरा था। राजाओं को यह अभिलाषा रहा करती थी कि उनके राज्य में सब धर्मानुयायी शांतिपूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करें। उन्हें अपने मत को मानने, मार्ग पर चलने तथा गुरुजनों के आज्ञापालन में स्वतंत्रता थी। यह आवश्यक न था कि राजा के धर्म को सभी अपनावें। गुप्त राजाओं ने कभी भी इस बात पर जोर न दिया। धार्मिक स्वतंत्रता को अपहरण करना उनका ध्येय न था। यदि भारत के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो मालूम पड़ेगा कि ईसा की कई सदी पूर्व से ही बौद्ध तथा जैन मतों का प्रचार था। जनता में प्रचार के अतिरिक्त बौद्ध राजधर्म हो गया था। अशोक से कनिष्क तक प्रायः भारतीय सम्राट् बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जैनमत को साधारण संख्या में लोगों ने अपनाया था। राजाओं ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार तो अवश्य किया, पर उन लोगों ने अन्य मतों का निरादर नही किया। इसलिए उन सब के समय में सहिष्णुता की भावना थी। ईसा की तीसरी शताब्दी से वैष्णव मत का प्रचार हो गया था तथा कई मत मतान्तर विद्यमान थे। उनमें वैष्णवधर्म प्रधान धर्म हो गया था। जनता में पुनर्जन्म के कारण निराशा पैदा हो गयी थी, इस कारण संसार के संकट के निवारण के लिए अवतारवाद की कल्पना की गयी थी। विष्णु के चौबीस अथवा सोलह अवतार माने

गए थे। इसी कल्पना के कारण भगवान की बहुभुजी मूर्त्तियाँ बनने लगी थी। वैदिक देवता की प्रतिमाओं के स्थान पर पौराणिक देवता स्थापित हुए और पूजा होने लगी। नाना रूप तथा नाम के साथ मूर्त्तियाँ बनीं। शक्ति की कल्पना से कला में सभी देवताओं की शक्तियाँ (स्त्री रूप में) स्थान पा गयीं। पंचदेवों में ब्रह्मा की ब्रह्माणी, विष्णु की लक्ष्मी, शिव की उमा तथा गणेश की शक्ति को कला में स्थान मिला। दुर्गा शिव की उग्र शक्ति का नाम था। पहले शक्तियाँ पृथक् बनती रहीं, पर कालान्तर में साथ में तैयार होने लगीं। उमामाहेश्वर की मूर्ति उसका ज्वलन्त उदाहरण है। तीसरी श्रेणी में शिव शक्ति, पुरुष स्त्री अथवा ईश्वरमाया को एक में ही मिलाकर अर्धनारीश्वर की प्रतिमा बनी। जिसका अर्थ यह था कि ब्रह्म एक है और सभी उसी के विभिन्न रूप हैं। यद्यपि गुप्तकाल वैष्णवपूजा के उत्कर्ष का युग था, परन्तु इसका प्रचार तो ईसवी सन् पूर्व से चला आ रहा था। संयुक्तप्रान्त से बंगाल तक बारहवीं सदी तक फैला रहा। सेनकाल में वैष्णव मत के अधिक प्रचार से साहित्य का निर्माण हुआ। जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना कर बंगाल को विष्णुमय बना दिया। उस समय विष्णु के दश अवतारों की ही पूजा की जाती थी जिसमें अंतिम दो अवतार बौद्धों से लिया गया था।

विष्णु के साथ शिव की पूजा होती रही। सर्वप्रथम शिवलिङ्ग की पूजा का विवरण पाया जाता है। मोहं-जो-दडो में शिवलिङ्ग की मूर्ति मिली है। ईसा की पांचवीं सदी से लिङ्ग से भिन्न एकमुख तथा चतुर्मुख लिङ्ग की पूजा समाज में आयी। गुप्तकालीन मूर्तियों में खोह का एक मुखलिङ्ग सर्वप्रसिद्ध है। ऐलेफेन्टा गुफा में चतुर्मुख लिङ्ग की विशाल प्रतिमा बनायी गयी थी। शिवमत के प्रचार की तीसरी श्रेणी मनुष्य-शरीर के सदृश देवप्रतिमा से मानी गयी है। शिव की आलिंगन तथा विवाह मूर्ति उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिवपूजा आज से पांच

हजार वर्ष पहले आरम्भ हुई । काश्मीर से ले कर राजपूताना तक इसका व्यापक क्षेत्र था । पाशुपत-मत इसी का एक भिन्न स्वरूप था । वीर शैव दक्षिण भारत मे शैवमत का प्रचार करते रहे। बारहवीं सदी तक लेखों में शिव की प्रार्थना मिलती है। कलाकार प्रतिमा बनाते रहे । शिव के साथ गणेश का भी नाम लिया जा सकता है जो पंचदेव में स्थान पा चुके थे । गणेश की मूर्तियाँ पृथक् तथा शिव-पार्वती के साथ मिली है। मध्यकाल में इस मत के मानने वाले गाणपत्य कहे जाते थे। इनके आगम का भी नाम साहित्य में मिलता है। कुछ विद्वान गणेश को अनार्यदेव मानते है, परन्तु यह बुद्धि से परे की बात होती है। तंत्रमत के प्रचार के बाद गणेश के भी अनेक रूप मिलते हैं। इनका प्रभाव इतना था कि वृहत्तर भारत में भी गणेशपूजा प्रचलित हो गयी।

सूर्य को पंचदेव-पूजा में स्थान मिल चुका था । स्यात् इसके पुजारी भारत के बाहर से सूर्यपूजा का प्रचार किया था। यों तो वैदिक देवताओं में सूर्य की प्रधानता थी, परन्तु पौराणिक देवताओं में भी सूर्य को स्थान दिया और सर्वत्र प्रचार किया । सूर्य प्रतिमा में लम्बे मोजे की तरह वस्त्र से उनका पैर ढका दिखलाया गया है। यह ईरानी । ढंग का वस्त्र माना जाता है । यह कनिष्क के सिक्कों पर मिलता है। सूर्य की सात रंग वाली किरणों को मूर्ति मान कर सात घोड़े बना दिए गए हैं। इस तरह ईसवी सन् से सूर्य उपासना की प्रथा ज्ञात होती है । गुप्तकाल में इसके लिए मंदिर-निर्माण की बात उत्कीर्ण लेख में कही गयी है। मध्य युग में अरब लेखकों ने मुल्तान के सूर्यमंदिर का नाम लिया है जिस पर हिन्दुओं द्वारा लाखों रुपये भेंट के रूप में दिए जाते थे । इस मंदिर से मुसलमान सुल्तान अपनी रक्षा करते थे । नवीं सदी की बात है, उत्तरी भारत में गुर्जर प्रतिहार राजा शासन करते थे । जब कभी भी प्रतिहार सिन्ध की ओर चढ़ाई करते, थे तब मुसलमान मुल्तान के सूर्य-मंदिर को तोड़ने की धमकी देते और हिन्दू राजा धार्मिक भय से वापस चला

आता रहा, अन्यथा स्थिति कुछ और हो गयी होती। दसवीं सदी के बाद गुर्जर प्रतिहार नष्ट हो गए और मुल्तान के सूर्यमंदिर का पता न लगा। यह तो सूर्य के उपासक जनता की बात रही। हर्ष के पिता सूर्योपासक थे । मध्यकालीन लेखों में सूर्यग्रहण की बात आती है। बारहवी सदी के सेन-नरेश सूर्य की पूजा करते रहे। वहीं से उड़ीसा में इसका प्रचार बढ़ा । भुवनेश्वर का विशाल सूर्यमंदिर आज भी उस याद को बनाए हुए है।

पंचदेवों में दुर्गा देवी का नाम शक्ति के रूप में एक ही है। उग्र शिव की वह उग्र शक्ति है। उनके सदृश किसी भी शक्ति की पूजा नहीं हुई। गुप्तकालीन कला में उसके उदाहरण मिलते है। मध्यकाल की यह प्रधान देवी थीं जिनके मंदिर तथा प्रतिमायें स्थान-स्थान पर मिली हैं। पालयुग में तो दुर्गा (महिषमर्दिनी) की काले प्रस्तर की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। आज भी बंगाल में दुर्गा की पूजा दशहरे के समय हुआ करती है । मूर्ति के मिलने से प्रचलित धार्मिक भावना की बात प्रकट होती है। यही अवस्था भारत में काफी समय (हिन्दू काल) तक रही। मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् सारी स्थिति बदल गयी।

शासकों के अतिरिक्त सर्वसाधारण जनता को संसार से मोक्ष की ओर ले जाने के लिए और धार्मिक बंधन को दृढ़ करने के लिए ऋषियों ने स्थान-स्थान पर तीर्थ निर्धारित किए। वहाँ की यात्रा धार्मिकता को बढ़ानेवाली समझी गयी। संसार के काम से थकावट आने पर तीर्थयात्रा का मार्ग हितकर समझा गया। इससे नया जीवन प्राप्त होता है। लौटने पर नए उत्साह व लगन से सब कार्य किए जाते हैं । ऋषि-मुनि भी पर्वतों और नदियों के किनारे तपस्या करते थे जो यह कार्य अन्तःज्ञान तथा मोक्ष के लिए किया जाता था । दार्शनिक तत्व सब के लिए न था। परन्तु राम-कृष्ण के स्थानों को सब के लिए पवित्र माना गया। अत-एव ऋषियों के तपस्या-स्थान तथा देव-सम्बन्धी जगहें तीर्थ मानी

गयीं। लाखों की संख्या में लोग तीर्थयात्रा करने लगे। काशी, पुरी, पंढरपुर, गया आदि प्रसिद्ध हुए। मध्य काल में तीर्थों का विशेष महत्व था। गोविन्द चन्द्रदेव प्रायः सभी दान काशी में दिया करता था। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि मै पर्वतों में हिमालय हूँ। यही कारण था कि बद्रीनाथ तथा केदारनाथ उत्तरी पर्वतीय प्रदेश के तीर्थस्थान बन गए। गंगा की घाटी में ऋषियों ने संस्कृति का प्रचार किया, इसलिए इस नदी के किनारे अधिक तीर्थ हैं। जीवन में तीर्थयात्रा का महत्व होने से प्रायः सभी गृहस्थ इसके लिए इच्छुक रहते हैं। महात्माओं के निवासस्थान भी कभी-कभी पुण्यभूमि बन जाते हैं। रामदास का पंढरपुर से, चैतन्य का जगन्नाथपुरी से तथा श्रीरामकृष्ण का दक्षिणेश्वर से सम्बन्ध होने के कारण उपदेश के लिए लोग जाने लगे और ये तीर्थ बन गए। वहीं पर उन लोगों ने अपने आराध्यदेव का दर्शन किया था। इन सब कारणों से तीर्थस्थान शिक्षा तथा विद्या के केन्द्र थे। धीरे-धीरे वे स्थान व्यापार के प्रधान केन्द्र बन गए। तीर्थयात्रा से भारतवासियों को पारस्परिक मेल-जोल का अवसर मिला। इसी विचार को सामने रख कर तथा सम्पूर्ण भारत की ज्ञानवृद्धि के लिए चारों धाम की कल्पना निश्चित की गई।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेस्मिन् सन्निधिंकुरु।

भारत की नदियां पवित्र हैं और भारत की एकजातीयता के प्रतीक हैं। आपस में धार्मिक वार्त्तालाप तथा मेल-मिलाप के लिए मेला लगाने की प्रणाली चलायी गयी। सभी तीर्थो में मेला लगता ही है, पर चार में—प्रयाग, हरिद्वार, नासिक तथा उज्जैन में—बारह वर्षों के बाद कुम्भ (बड़ा मेला) का आयोजन किया जाता है जिससे लोगों में सम्पर्क बढ़े और एक दूसरे को समझें। इससे धर्म का प्रवाह बढ़ने लगा। भारत में ऐसा कोई भी प्रान्त न रहा जहां मेला

न लगता हो। इस रूप से सारे देश में देवत्त्व-प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया ।

इसके अतिरिक्त समाज में उत्सव मनाने की प्रथा धार्मिक विचार से खाली नहीं है। उत्सव या त्योहार किसी दिन विशेष कर मनाया जाता है । उसमें देश के वीरों की कथा भी सन्निहित रहती है। त्योहार तो ईश्वर-सम्बन्धी हुआ करते थे, पर पीछे से जीव-सम्बन्धी (जैसे रामनवमी, विजया दशमी) और प्रकृति-सम्बन्धी—दीपावली, होली आदि मनाए जाने लगे । इन त्योहारों का प्रकृति तथा देवताओं से ही सम्बन्ध है । अतएव ये धार्मिक बातों को बतलाते हैं।

धार्मिक कार्यो में दान को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्राचीन काल में विहार तथा मठ को दान दिया जाता था जिसका उल्लेख अशोक, उषवदात्त तथा गुप्त लेखों में सर्वत्र मिलता है । भिक्षुओं के लिए गुफायें दान में दी गयी थीं। उषवदात्त ने हजारों सिक्के तथा गाय उनके भोजन के लिए दिया था । इसी तरह गुप्त काल में संघ में दीनार दान देने का विवरण पाया जाता है। सातवीं सदी के बाद दान की प्रथा में परिवर्तन हो गया। व्यक्ति के स्थान पर संस्थाओं को दान देने की बात ताम्रपत्रों में खुदी मिलती है। व्यक्तियों के भोजन निमित्त सत्र (सदावर्त) स्थापित किए गए थे ताकि लोग भिक्षा न मांगे। इस तरह आलसी भिक्षुओं को भी भिक्षा मांगने से निरुत्साहित किया गया। पूर्व मध्यकाल (६००-१२०० ई० तक) में अधिकतर दान में गांव दिए जाते थे जो अग्रहार ग्राम के नाम से विख्यात हुए। उन दानग्राही व्यक्तियों से किसी प्रकार का कर न लिया जाता था। उन्हीं को अग्रहार ग्राम के सभी कर (टैक्स) ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था। दान शिक्षाकार्य के लिए दिए गए थे। यहां तक कि जावा के राजा बलपुत्रदेव के कहने पर पालनरेश देवपाल ने पांच गांव नालंदा

महाविहार के लिए दान किया था। यही नहीं, जो ब्राह्मण विभिन्न वैदिक शाखा का अध्ययन करते रहे, उन्हें भी दान में भूमि दी जाती थी। पंडित, वेदपाठी तथा श्रोतिय को सभी दान देते थे। इसके अतिरिक्त देवालयों के निर्माण, मरम्मत तथा देवपूजा के निमित्त दान देने का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। शासक के अतिरिक्त व्यापारिक श्रेणियां तथा बैंक मंदिर में देव-पूजा के लिए दान देते रहे। कोई माली फूल के लिए प्रबंध करता, तो कोई तैलिक श्रेणी दीप के लिए तेल दिया करती। बैंक में जमा किए गए पैसे की आय से रागभोग में व्यय किया जाता था। मंदिर की मरम्मत करने का उल्लेख भी लेखों में मिलता है। इस तरह शासक तथा श्रेणियों के दान से सभी प्रकार के धार्मिक कार्य सम्पन्न किए जाते थे। दान की महत्ता को समझ कर ही दानपत्रों के अंत में शापयुक्त श्लोकों को स्थान दिया जाता था ताकि कोई दान वापस न ले सके। उन्हें धार्मिक भय दिखाया जाता था कि दान वापस लेने पर मनुष्य घोर नरक में पड़ता है, कीटाणु का जन्म लेता है। साथ में दान देने वालों को पुण्य-लाभ की प्रशंसा की जाती थी। स्वर्ग तथा पुण्य की कामना से दान देने के लिए प्रोत्साहन मिलता था। पूर्वमध्य-कालीन स्मृतियों में षोड़श महादान का वर्णन मिलता है जिसमे तुलादान का उल्लेख अनेक बार किया गया है। भूमिदान सबसे श्रेष्ठ माना गया है, यही कारण है कि अग्रहार दान का विवरण ताम्रपत्रों में मिलता है। ऐसे दानपत्रों की संख्या अनगिनत है।

व्यास-कथा—अर्थात् कथा बाँचने की प्रणाली भी भारत की प्राचीन बातों में से एक मुख्य धार्मिक कार्य समझा जाता है। इसका इतिहास पुराना है। व्यास-कथा से व्यास. मुनि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। पर उनके चलाए हुए धार्मिक कथाओं का महत्व अब भी कम नही है। गद्दी पर बैठ कर प्रधान धर्म की बातें कहना, सन्देह व प्रश्नों का उत्तर देकर सत्य को दृढ़ करना, कथाओं का मुख्य ध्येय समझा जाता है। विद्वानों का कथन है कि तीर्थ-

यात्रा तथा धार्मिक मेलों का राष्ट्र की संस्कृति को उन्नत करने में कितना बड़ा हाथ है, यह कहा नहीं जा सकता। विश्व की उत्पत्ति से ही भारतीय लोगों के रगों में यह व्याप्त है। इसने देश को समुन्नत करने में काफी हाथ बंटाया है। भारत की इस संस्था ने, धार्मिकता को सुरक्षित रक्खा, लोगों में देश-प्रेम उत्पन्न किया और विभिन्न मतानुयायी होने पर भी सब को मिला कर एक सूत्र में बांधा। धार्मिक व्यक्तियों में तीर्थ करने तथा उत्सव में सम्मिलित होने के लिए उत्साह पैदा हुआ। यहाँ तक कि हम लोग इस सिद्धांत को मानने लगे कि अधिक संख्या में तीर्थ करने से ही जनता में धार्मिक भाव उत्पन्न होंगे, इससे देश में शांति और वैभव बढ़ेगा।

भारतीय व्यापार तथा मुद्रानीति

भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता की खोज करने के लिए जीवन के सभी अंगों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। किसी देश या जाति की संस्कृति का विकसित रूप तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक कि सभी कार्य सुसंगठित तथा प्रदर्शित न हों। द्रव्य पैदा करना तथा आर्थिक स्थिति को सुधारने की बात सर्वत्र ही पायी जाती है। अतएव इस बात पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि भारत में आर्य लोगों ने, जो किसी समय संसार में सभ्य माने जाते थे, अपनी जाति के सुख तथा समृद्धि के लिए किन-किन उपायों तथा प्रकारों को काम में लगाया था। भारत में प्राचीन समय से ही श्रेष्ठ विचारों द्वारा अर्थ-उपार्जन अथवा संग्रह करने की क्रिया प्रचलित थी। प्राचीन साहित्य-ग्रंथों का अध्ययन किया जाय तो भली भाति ज्ञात होता है कि इतिहास के आरम्भ से ही भारतीय सभ्यता मे सब प्रकार के उपाय कार्यान्वित किए जाते थे। देश में कृषि का काम होता था और उस समय सभी प्रकार के अन्न तथा फल यहाँ पैदा होते थे। कृषि के लिए समय से वर्षा होती थी ; नहरें तथा तालाब के द्वारा भी सिंचाई का प्रबंध था; गो-पालन भी एक श्रेष्ठ कार्य समझा जाता था। आय का एक मुख्य द्वार खेती ही थी। धान, गेहूँ, जौ आदि अन्न अधिकता से पैदा किए जाते थे। अन्न, फल, शाक तथा फूलों के नाम प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं जिससे उनके पैदावार की बात स्पष्ट हो जाती है। आर्यों की बढ़ते हुए कार्य में खेती की उन्नति के लिए भूमि को नाप कर टुकड़ों में बाँट दिया जाता था, सीमा निर्धारित की जाती थी, सिंचाई के लिए समुचित प्रबंध था। मौर्यकाल से तो इतने ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं जिससे भारत में सिंचाई की (नहरों आदि की) उन्नति का

पूरा हाल मालूम होता है। मेगस्थनीज ने सिंचाई के विषय में विशेष विवरण दिया है। चन्द्रगुप्त ने गिरनार पर्वत (गुजरात) के समीप सुदर्शन नामक बड़ा झील तैयार कराया था। अशोक ने उससे नहरें निकाल कर उत्तरोत्तर उन्नति की। रुद्रदामन तथा स्कन्द ने उसे मरम्मत कराया था। उसके वंशज आदित्यसेन की पत्नी ने एक अन्य जलाशय का निर्माण कराया था। दक्षिण भारत में भी इसकी कमी न रही। शासकों का ध्यान सदा कृषि की ओर रहा। मध्यकालीन लेखों में इस बात का बार-बार वर्णन मिलता है कि चंदेल, प्रतिहार, चेदि, परमार-नरेशों की दृष्टि कृषि की ओर थी और अनेक विशाल तालाब तैयार किये गये थे। बुदेलखंड तालाबों के लिए प्रसिद्ध है। काश्मीर में सूर्य नामक इजिनियर ने झेलम के बहाव को रोक कर सिंचाई के लिए नहर निकाली थी। सिंचाई के स्थानों पर भूमि-कर अधिक लिया जाता था

कृषि के पश्चात् जनता का व्यवसाय व्यापार था। अधिक संख्या में लोग सामग्री तैयार करने में लगे रहते थे। यों तो भारत में गांवों की संख्या अधिक थी, प्राय: सभी प्रकार के लोग ग्राम में रहा करते थे, वर्तमान शहरों की तरह नगर कम थे; परन्तु जो जहाँ रहता था वहीं से व्यापार की बातें सोचा करता था। ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि जनता आवश्यकतानुसार सामान तैयार करती थी। वे उसी को बेंचने तथा खरीदने में व्यस्त रहा करते थे। उस समय रथ की आवश्यकता थी, अतएव रथ बनानेवाले कारीगर अधिक थे। युद्ध के अस्त्र-शस्त्र भी खूब तैयार किए जाते थे; हल बनाया जाता था। कारीगर वस्त्र तथा आभूषण बनाया करते थे। लोगों के एक दूसरे के निकट रहने से बड़े पैमाने पर व्यापार की कोई आवश्यकता न थी। सिक्कों की प्रथा कम थी। सामान के परिवर्तन से ही सब किसी का काम चलता था। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों कार्य-कुशलता बढने लगी, लोगों में व्यापार की आवश्यकता मालूम होने लगी। सोने के शतमान आदि सिक्के बनने लगे। तरह

तरह का कार्य लोगों ने सीख लिया। सूत्रकाल में खेती पर कर लगाए गए। राजा को चुंगी से भी आमदनी होती थी। यह व्यापार की अधिकता का द्योतक है। आने-जाने के मार्ग भी बनने लगे। उन सड़कों से आसानी के साथ सामान आ जा सकता था। इस प्रकार की अवस्था ईसा के कई सहस्र वर्ष पहले भारत में मौजूद थी।

कृषि के अतिरिक्त व्यापार की ओर जनता का ध्यान बढ़ने लगा। महाभारत में वर्णन मिलता है कि व्यापारी अपना माल बेचने के लिए समुद्रयात्रा भी करते थे। वहाँ उनको अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता था।

वणिग् यथा समुद्राद् वैयथार्य लभते धनम्।
तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः॥ (शा० प०)

यदि उनके जहाज नष्ट हो जाते थे तो अन्य द्वीप में पहुँच कर शरण लेते, तब प्राणरक्षा होती थी।

भिन्नाः नौकाः यथा राजन् द्वीपमासाद्य निर्वृताः
भवन्ति पुरुषव्याघ्राः नाविका कालपर्यये। (द्रो० प०)

जहाज पर सामान ले कर भारतीय दूर तक जाया करते थे। विद्वानों का कथन है कि आर्य हिन्द महासागर तथा प्रशांत महासागर तक की यात्रा करते रहे। यही कारण है कि पोत को 'यानपात्र' कहा गया है। वर्तमान समय में भी चीनी लोग जहाज को 'यान' कहते हैं। इस प्रकार की यात्रा का वर्णन आदि पर्व में भी मिलता है—

ततः प्रवासिने विद्वान् विदुरेण नरस्तदा
प्रार्थनां दर्शयामास मनोमारुतिगामिनीं
सर्ववातसहां नावं यंत्रयुक्तां पताकिनीम्
शिवे भागीरथी तीरे नरैः विस्रम्भिभिः कृताम्।

महाभारत के अतिरिक्त रामायण के भी वर्णन से मालूम होता है कि लोग कला में निपुण होते थे। अयोध्या तथा लंका नगरी के विवरण से उस समय के लोगों की कारीगरी की बातें मालूम पड़ती हैं। उस समय व्यापार के निमित्त एक पृथक् संस्था थी जिसे 'श्रेणी'

के नाम से पुकारा जाता था। इस संस्था के नियम ही पृथक् होते थे। जो उसकी सदस्यता को स्वीकार करता था, उसे नियमानुकूल काम करना पड़ता था। विभिन्न श्रेणी पृथक् पृथक् व्यापार में लगी रहती थी। उसके लाभ हानि के जिम्मेदार सभी लोग समझे जाते थे। व्यापारिक श्रेणियों का वर्णन भारतीय साहित्य तथा लेखों में विस्तार के साथ पाया जाता है। बौद्ध साहित्य, जातक ग्रंथों, विशेषकर स्मृतियों तथा गुप्तकालीन प्रशस्तियों में तो इनकी कार्यशैली का हाल भरा पड़ा है। जातकों मे ऐसी अठारह संघटित संस्थाओं के नाम मिलते हैं जो अनेक व्यापारिक तथा उद्योग-धंधे का काम करती थीं। लकड़ी के काम करने वाली संस्था, धातु के काम करने वाली, बुनने का काम करने वाली, प्रस्तर, चमड़े, हाथी-दांत, जौहर, नौका, चित्र आदि आदि के कार्यों के करने वाली संस्थाएँ थीं। श्रेणी का सारा काम अपने में होता था। झगड़े का निपटारा तथा शिल्प की शिक्षा आदि का प्रबंध उसी संस्था के सदस्यों द्वारा किया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि प्राचीन समय मे सिक्के तैयार करने की जिम्मेदारी शासक ने श्रेणी को दे दी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापार पूंजीपतियों के हाथ में न था। गणपद्धति के ढंग पर काम होता था। इस संस्था के कारण देश में धन की वृद्धि होती थी तथा सब को सुख मिलता था।

भारत में प्रत्येक तरह का सामान तैयार किया जाता था। अधिकतर रेशम, ऊन, मलमल आदि महीन वस्त्र बनते थे। मोती, हीरा, हाथी-दांत, सुगंधित द्रव्य, मसाले आदि उनके साथ-साथ विदेशों में जाया करते थे। सामान के लिए संसार के सभी देश भारत का मुँह ताका करते थे। उनकी सारी आवश्यक सामग्री भारत से मिलती थी। उसके बदले में यहाँ सोना आया करता था। मिस्र की आधुनिक खोज में वहां की ममियों की कब्रों में भारतीय मलमल मिला है। यही बारीक मलमल अंग्रेजी कम्पनी के समय तक बनता था जिसे ढाके का मलमल कहा जाता था। वस्त्र का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत था। सुन्दर तथा महीन कपड़े बनते थे। छीट तथा शाल तो पहले से प्रसिद्ध हैं।

फाहियान ने लिखा है कि भारत में कपड़े की रंगाई अत्यन्त सुन्दर ढंग से की जाती थी। विदेशी पेरिप्लस ने उल्लेख किया है कि रेशम, कीमती पत्थर, हाथी-दांत, मसाला आदि विदेश में भेजा जाता था। अरब के एक व्यापारी हज़रत उमर ने कहा था कि भारत के समुद्र में मोती भरा है। छठीं सदी मे अरब वाले भारत से कीमती पत्थर ले जाते थे। बाहर से आने वाली वस्तुओं मे घोड़ा, कपूर, नमक, मूंगा आता था। प्लिनी ने साफ तौर से कहा कि रोमन राज्य (रोम देश—योरप) से करोड़ों रुपये भारत में आते है जिसके बदले में सुख की सामग्री, वस्त्र आदि जाते हैं। इन विदेशियों के कहने के अनुसार भारत का व्यापार बहुत बढ़ा-चढा था। इस प्रकार भारतीय व्यापारी विदेशों का धन अपने देश में ले आते थे।

भारतीय व्यापार जल तथा स्थल दोनों मार्गो से होता था। जातकों में इसका विवरण विशेष रूप से मिलता है। चुलक सेठी नामक जातक ग्रंथ में वर्णन मिलता है कि व्यापारी आनेवाले जहाज का माल खरीदते थे। दूसरी जगह ७०० व्यापारियों के डूबने से बचने का उल्लेख पाया जाता है। मिलिन्द प्रश्न में एक स्थान पर लिखा है कि जो व्यापारी बन्दरगाह पर कर दे देता था वह समुद्र में व्यापार कर सकता था। महाजनक की चम्पा से सुमात्रा तथा महेन्द्र की ताम्रलिप्ति से लंका तक समुद्रयात्रा का वर्णन मिलता है। इन सब प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी माल लेकर विदेशों तक समुद्र से जाया करते थे। इन व्यापारों के लिए बड़े जहाजों का बनना जरूरी था। उसी अवस्था में पूरब में चीन तक तथा पश्चिम में अफ्रीका व योरप तक व्यापारी माल ले जा सकते अथवा वहाँ से माल ले आ सकते थे। प्लिनी के वर्णन से रोम तक जाने की बात सिद्ध होती है। पश्चिमी व्यापारी के लिए सुपारा तथा भरौंच प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। मालाबार के किनारे से मिस्र तक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। भारतीय सिक्के मैडागास्कर द्वीप में मिले हैं तथा रोम के सिक्के भारत में पाये जाते हैं। सिक्कों की प्राप्ति उन देशों से व्यापार

की बात को सिद्ध करती है। ईसा की छठीं सदी के ग्रंथ वृहत्संहिता में रोमक (रोम नगर) तथा भरौंच का उल्लेख पाया जाता है। इतना ही नहीं, पांड्य देशों में रोम के सैनिक सेना मे नौकरी करते थे। अत. ईसा की प्रथम शताब्दी से ही भारत तथा पश्चिमी देशों में व्यापार स्थापित हो गया था। भारत से पूर्व में जावा, सुमात्रा, थाईलैंड, कम्बोडिया से व्यापार बराबर चलता रहा। कालिदास ने अपने महा-काव्य रघुवंश में जावा सुमात्रा का उल्लेख किया है। इस जलमार्ग की पुष्टि जावा के बोरोबुदूर मंदिर पर खुदी हुई मूर्त्तियों से होती है। मंदिर की दीवार पर बड़े-बड़े जहाजों के चित्र अंकित हैं। गुप्त राजाओं के समय में पूर्वी समुद्र मे भारतीय व्यापार ने गहरा प्रभाव स्थापित लिया था। भारतीय प्रायद्वीप, द्वीप समूह तथा चीन देश तक नियमित जलमार्ग स्थापित हो गया था।

इस जलमार्गीय व्यापार से प्रकट होता है कि व्यापारियों के पास अफ्रीका तथा चीन तक पहुँचने के लिए बड़ी नावें तथा सामुद्रिक जहाज अवश्य थे। जो कुछ भी हो, परन्तु साहित्य तथा चित्रकला के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि छठीं सदी में (गुप्तकाल में) बड़े जहाजों का निर्माण होता था और लोग उनका उपयोग करते थे। गुजरात मे एक जनश्रुति है कि ईसा सन् ६०० ई० में एक राजकुमार पाँच हजार मनुष्यों के साथ जावा पहुँचा। वहां के लोग जलमार्गीय व्यापार से जीविकोउपार्जन करते थे। चीनी यात्री फाहियान ने भी अपनी अन्तिम यात्रा भारतीय जहाज द्वारा समाप्त की। वह बंगाल से लंका और वहां से सुमात्रा होते चीन को गया। व्यापार के साथ द्वीप-समूहों में भारतीय लोगो ने उपनिवेश बनाए। यही कारण है कि भार-तीय सभ्यता वहाँ पायी जाती है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है कि पोत-निर्माण-कला एक उच्च श्रेणी तक पहुँच चुकी थी। डा० कुमार स्वामी का मत है कि गुप्तकाल में जहाज बनाने की कला बड़ी उन्नत अवस्था में थी। पूर्व में चीन तक और पश्चिम में अरब-फारस तक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था—

The greatest period of Indian ship-building must have been the Imperial age of Guptas when India possessed great colonies in Java, Sumatra......and trading settlements in China, Arabia and Persia, (Art and Craft in India).

उनका मत है कि पन्द्रहवी व सोलहवीं सदी में योरप के जहाजों से भारतीय जहाज बड़े थे। प्राचीन जहाजों की प्रशंसा फ्रांसीसी विद्वान् सोलविन ने की है। राजा भोज-रचित पुस्तक 'युक्ति कल्पतरु' में जहाजों के बनाने का विधान लिखा है। इन्हीं बातों के आधार पर यह कहा गया है कि भारत का सामान जहाजों में भर कर विदेशों मे जाया करता था।

भारत का व्यापार सर्वत्र फैल गया था। जलमार्ग के अतिरिक्त स्थल से भी सामान योरप तथा मध्य एशिया को जाया करता था। सामग्री गाड़ी या कारवाँ से दूसरे देशों में भेजी जाती थी। जातकों में वर्णन मिलता है कि अनाथपीडक बहुत बड़ा व्यापारी था। उसके लम्बे कारवाँ चला करते थे। काशी के व्यापारी ब्रह्मदत्त का माल दक्षिण में पाँच सौ गाड़ियों में लद कर जाया करता था। तामिल कवि ने लिखा है कि 'कावेरीपट्टम्' नामक स्थान दक्षिण में व्यापार का केन्द्र था। वहाँ यूनान से भी व्यापारी आते थे। जातकों में तीन स्थल-मार्गों का वर्णन पाया जाता है जिन पर अनाथपींडक की गाड़ियाँ चला करती थीं। पहला मार्ग श्रावस्ती से पैठान तक था। उसी रास्ते में माहिष्मती, उज्जयिनी, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत में ठहरने का प्रबन्ध था। दूसरा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक था। इसके बीच में कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, वैशाली, पाटलिपुत्र तथा नालंदा नगर पड़ते थे, जहाँ व्यापारी आराम करते थे। तीसरा मार्ग पर्वत की तलहटी होते श्रावस्ती से तक्षशिला, और वहाँ से मध्य एशिया तक चला जाता था। चौथा काशी से पश्चिमी किनारे तक जाता था। इन स्थल मार्गो के अतिरिक्त नदियों के द्वारा भी व्यापार होता था।

गंगा यमुना से कौशाम्बी तक (मगध तक) सामान जाया करता था। इनके अलावा व्यापार विदेह से गान्धार, मगध से सौबीर, भरु (भरौंच बन्दरगाह) से ब्रह्मदेश के किनारे तक जाते थे। भारतीय शासकों ने व्यापार की महत्ता को समझ कर बड़ी-बड़ी सड़कें बनवायी थीं। मौर्यकाल मे पाटलिपुत्र से अफगानिस्तान तक १,१०० मील लम्बी सड़क तैयार की गयी थी। स्थलमार्ग सर्वथा सुरक्षित थे। चोर-डाकू का नाम तक न था। गुप्तकाल में पाटलिपुत्र से भरौच तक व्यापार खूब चलता था। इलाहाबाद होकर उज्जयिनी होते भरौच बंन्दरगाह तक पहुँचते थे। स्थलमार्ग के द्वारा न केवल स्वदेश में, पर अरब, बैबिलोनिया, मध्य एशिया तक व्यापारी सामान लेकर आया जाया करते थे। रोम तथा सिरिया होकर दक्षिणी योरप तक अथवा आक्सस और कैसपियन सागर होकर मध्य योरप तक भारत से लोग जाया करते थे। ये सब बातें बतलाती है कि भारत की बनी हुई सामग्री एशिया मे चीन तक, योरप में तथा अफ्रीका में बेंची जाती थीं। वहां के लोग भारतीय माल पर निर्भर रहते थे।

व्यापार के साथ-साथ देश की मुद्रानीति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब लोग कारोबार करते हैं, तब रुपयों की अधिक आवश्यकता होती है। यदि सिक्के के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो यह मालूम पड़ता है कि प्रारंभिक समय में जब लोग खेती करते थे तब उनके पास सिक्कों का अभाव था। एक किसान अपने अन्न से ही विनिमय कर जरूरत की चीजें खरीदता था, रुपयों की जरूरत न समझी जाती थी। जैसे आजकल गांवों में होता है कि किसान अन्न देकर कपड़ा, मवेशी आदि भी खरीद लेता है, वही विनिमय (Barter) की प्रथा पहले भी थी। विनिमय के काम में सुविधा पैदा करने के लिए सिक्के का आविष्कार हुआ। व्यापार बढ़ने पर एक व्यक्ति अगर सामान बेचने जाता था तो वहाँ से सिक्के के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं ला सकता था। जिसको आवश्यकता होती थी वह सिक्के देकर सामान खरीदता था। इसी नियम के अनुकूल संसार में सिक्कों का प्रचार काफी समय के बाद

हुआ है। विद्वानों में मतभेद है कि सिक्का सर्वप्रथम कहाँ से प्रारम्भ हुआ। भारतीय साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय सिक्के सब से पुराने है। यद्यपि हजारों वर्ष के पुराने सिक्के नहीं मिले है, फिर भी साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सिक्के अवश्य प्रचलित थे। ईसा से आठ सौ वर्ष पहले के पुराने सिक्के भारत में मिले हैं। सर्वप्रथम मानवसमाज में विनिमय के उपकरण स्वरूप धातुओं का व्यवहार प्रारम्भ हुआ और सुवर्णचूर्ण का प्रयोग होने लगा। परन्तु जैसा कहा गया है, धातु के सिक्कों का प्रयोग भारतवर्ष में बहुत पहले प्रारम्भ हो गया। सोने के सिक्के निष्क, चांदी के पण या धरण तथा ताम्बे के सिक्के कार्षापण के नाम से पुकारे जाते थे। श्रुति तथा स्मृतियों में सिक्कों के नाम तथा उनके तौल का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में सोने के सिक्कों के नाम मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में कार्षापण का नाम आता है। आज कल भी हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक, तथा ब्रह्मपुत्र से ईरान की सीमा तक चांदी के लाखों चौकोर और गोलाकार प्राचीन सिक्के मिले हैं। उस समय सिक्कों पर अंकचिह्न करने की प्रथा थी। साहित्य में इन्हीं को धरण या पण कहा गया है। नागौद राज्य में स्थित भारहूत स्तूप पर तथा बोधगया में मंदिर के वेष्टन पर प्रस्तर पर खुदे हुए चित्र मिले हैं जो यह बतलाते है कि प्राचीन समय में सिक्कों का प्रचार था। उसका कथानक यह है कि अनाथपींडक बौद्ध श्रेष्ठी ने जेत नामक राजकुमार से जमीन ख़रीदी जिसका मूल्य उस भाग में बिछाए गए सिक्कों के बराबर था। इन सब बातों पर विचार करने से पश्चिमी विद्वानों की धारणा निर्मूल हो जाती है कि सर्वप्रथम लिडिया देश में सिक्के प्रचलित हुए। कुछ विद्वानों की धारणा थी कि सिकन्दर के आक्रमण के साथ भारत में सिक्कों का जन्म हुआ। बाहरी सिक्कों की नकल पर भारत में मुद्रानीति निश्चित की गयी। परन्तु ऐतिहासिक विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि सिकन्दर के आक्रमण करते ही तक्षशिला के राजा आम्भि ने यूनानी नरेश को हजारों सिक्के

भेंट में दिए थे। यही एक प्रबल प्रमाण है कि भारत में सिक्के पहले ही से प्रचलित थे। अब रैपसन भी इस बात को मानते हैं कि भारत में सबसे प्राचीन सिक्के विदेशी प्रभाव के कारण नही बने थे, बल्कि स्वयं भारतीय तुलना रीति (तौल) के अनुसार बनने लगे। भारत में चादी के पत्तरों को छोटे-छोटे चौकोर टुकड़े काट कर सिक्के बनाए जाते थे। यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो पाती है कि सिक्कों के सम्बन्ध में भारतीय ईरान वालों के ऋणी है। पाणिनि के ग्रथों से पता चलता है कि पण आदि सिक्कों का प्रचार था। मारशल की तक्षशिला की खुदाई में द्वितीय दियदात के सुवर्ण मुद्रा के साथ चांदी के कार्षापण मिले हैं। ईसा के पाँच शताब्दी पूर्व भारत में सर्वत्र सिक्कों का प्रचार था। पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों ने पंच मार्क सिक्कों का पूरा अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि ये सिक्के राजकर्मचारियों द्वारा अंकित नहीं किए जाते थे, परन्तु श्रेणी संस्था राजा की आज्ञा से तरह-तरह आकार तथा चिह्नयुक्त तैयार किया करती थी।

इन पंच-मार्क सिक्कों (कार्षापण) का प्रचार भारतवर्ष में बहुत दिनों तक रहा। बड़े-बड़े राजा अथवा चक्रवर्ती नरेशों ने भी इसमें हस्तक्षेप न किया। उसका कारण यही था कि मुद्रानीति श्रेणी नामक संस्था के हाथ में थी। बौद्ध युग में भी मौर्य राजाओं ने उसी नीति का पालन किया। यद्यपि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने मुद्रा की जांच करने के लिए पदाधिकारी का उल्लेख किया है, पर उसका यह अर्थ नहीं कि बादशाह स्वयं अपनी राजधानी में सिक्के ढलवाते थे। भारत में सर्वप्रथम कुषाण नरेशों ने मुद्रा के तैयार करने का भार अपने सिर पर ले लिया। उन्होंने सोने के सिक्के चलाए। कनिष्क के सिक्के सरहदी सूबे में बहुत मिले हैं। कनिष्क के सिक्के गोल आकार के बनाए जाते थे। एक ओर राजा की आकृति तथा दूसरी ओर पदवीसहित नाम खुदा रहता था। ज्यों-ज्यों भारतीय व्यापार बढ़ता गया, इनका सम्पर्क विदेशियों से और दृढ़ होता गया और सिक्कों की तायदाद बढ़ती गयी। कुषाण लोगों के पश्चात् गुप्त साम्राज्य से पूर्व भारत के

पश्चिमी भाग में शकों का राज्य था। उन लोगों ने भी अपने सिक्के चलाए। इस के अतिरिक्त मध्य भारत तथा इस प्रान्त के पश्चिमी भाग में गणतंत्र (प्रजातंत्र) के तरीके पर शासनकार्य होता था। आजकल के अनुसंधान से उन गणराज्य के सिक्कों पर बहुत-सी नयी बातों का पता लगा है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय पुराने सिक्कों की नकल पर विदेशी तथा गणराज्यों में मुद्राएँ बनती रहीं।

गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय से सारे भारत में नया युग पैदा हो गया। इस काल में सब तरफ उन्नति हुई। इस 'सुवर्ण-युग' में व्यापारी भारत से योरप, अफ्रीका, चीन आदि देशों तक माल ले जाया करते थे और वहाँ से सोना ले आते थे। गुप्तकालीन सोने के सिक्के यह बतलाते हैं कि इस समय मुद्रानीति सम्राट् के हाथ में थी। स्थान-स्थान पर टकसाल थे। सोने, चांदी तथा ताँबे के सिक्के अनगिनत रूप से तैयार होते रहे। प्रत्येक बादशाह ने अपने समय में एक नए प्रकार का सिक्का चलाया था। वे सिक्के किसी विशेष घटना को बतलाते हैं या उस स्थान के सिक्कों की नकल पर तैयार किए गए हैं। जब सम्राट् किसी देश को जीत लेता है, तब मुद्रानीति को शीघ्र बदलने का प्रयत्न नहीं करता। जिस रूप में वहां के सिक्के होते हैं, वैसा ही ढंग नए राजा को भी काम में लाना पड़ता है। केवल उस पर नाम बदल दिया जाता है। प्राचीन भारत की यह नीति मुसलमानों तथा अंग्रेजी सरकार को भी काम में लानी पड़ी थी। उपर्युक्त कारणों से गुप्तकाल में नाना प्रकार के सिक्के तैयार किए गए। गुजरात के सिक्कों में तथा मध्यप्रांत के सिक्कों में अन्तर है। गुप्तों के अश्वमेध सिक्के विजय के द्योतक हैं। इस तरह बहुत प्रकार के सिक्के गुप्तों के टकसाल में बनते रहे।

गुप्त राजाओं के सिक्कों की नकल पर पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में मुद्रा बनने लगी। हर्षवर्धन, मौखरी, क्षत्रप, आंध्रवंशी राजाओं के भी सिक्के मिलते हैं। विदेशी हूण लोगों ने जब आक्रमण कर कुछ भाग जीत लिया, तब उन्होंने अपने नाम के सिक्के चलाए। बंगाल में सिक्कों के अनेक ढेर मिले हैं जिनमें शासन करनेवाले

नरेशों के सिक्के मिलते है। सातवीं सदी से हिन्दू साम्राज्य के स्थान पर छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए । भारत में एकछत्र सम्राट् का नाम जाता रहा । इन राजाओं ने काश्मीर, कांगड़ा, मध्यभारत, मध्यप्रांत, दक्षिण में अपने अपने सिक्के चलाये। प्रतिहार, चेदी, चालुक्य, गहरवार, चंदेल तथा नेपाल आदि राजवंशों के सिक्के पाए जाते हैं। इन सिक्कों का पृथक्-पृथक् तौल तथा आकार था। अधिकतर लोगों ने प्राचीन शैली को कायम रक्खा, पर उनका ह्रास ही होता रहा। गधिया नाम के सिक्के उन पुराने सिक्कों के प्रतीक मात्र रह गए ।

अंत में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि व्यापार की उन्नति सिक्कों की उन्नति का द्योतक है। सिक्कों के प्रकार की कमी व्यापार की हानि को बतलाता है। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है जो पृथक् नहीं किया जा सकता। प्राचीन समय में श्रेणी अथवा शासक का यह कर्तव्य था कि सिक्कों की धातु की शुद्धता पर ध्यान रक्खे। शुद्ध सोने, चांदी तथा ताँबे की मुद्राएँ बनायी गयीं। यदि कोई टकसाल में मिली धातुओं से सिक्का तैयार करता, तो उसे दण्ड दिया जाता था ।

भारतीय साहित्य तथा शिक्षा

किसी देश का इतिहास जानने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वहाँ के साहित्य का पूरा अध्ययन किया जाय। साहित्य उस देश तथा उस जाति के विकास को बतलाता है। मनुष्य की मानसिक कार्यशैली का प्रभाव साहित्य में दिखलाई पड़ता है। साहित्य की उन्नति उस देश की जागृत अवस्था का द्योतक है। किसी देश की संस्कृति का ज्ञान साहित्य-समीक्षा के द्वारा भी किया जा सकता है। अतएव साहित्य-अध्ययन को प्रधान स्थान दिया जाता है। इसी में जातिविशेष के उत्कर्ष का, उसके ऊंच-नीच भावों का, धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, ऐतिहासिक घटनाचक्रों तथा राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब मिल सकता है। जिस जाति में साहित्य का अभाव हो, वह असभ्य समझी जाती है। किसी देश के भूतकाल का पूर्ण ज्ञान साहित्य से हो सकता है। जो जाति सभ्यता की दौड़ में दूसरी जाति का मुकाबिला करना चाहती है, उसे चाहिए कि वह प्राचीन साहित्य की रक्षा तथा नवीन साहित्य के उत्पादन के लिए विशेष ध्यान दे। इन सब बातों को ध्यान में रख कर भारतीय गौरव की बातें जानने के लिए साहित्य का संक्षेप विवरण आवश्यक प्रतीत होता है।

भारत का प्राचीनतम ग्रंथ वेद माना जाता है। ज्ञान-भण्डार होने के कारण ही यह इस नाम से विख्यात हुआ। ऋषियों का कथन है कि सृष्टि की उत्पत्ति के साथ वेदों की भी रचना हुई। इसका लेखक मनुष्य न होकर ईश्वर ही समझा जाता है। यही कारण है कि वेदों को अपौरुषेय कहते हैं। चारो वेदों—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व—में मनुष्य के जीवन की सारी समस्याओं को हल किया गया है। राजनैतिक, सामाजिक तथा सब सांस्कृतिक बातों का वर्णन उनमें पाया

जाता है। ऋषियों ने सूक्ष्म रूप से तमाम बातों को जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु समयान्तर में वेदों का भाष्य किया गया। टीका-टिप्पणी लिखकर सबको समझाने की कोशिश की गयी। इस प्रकार के ग्रंथ 'ब्राह्मण' के नाम से पुकारे गए। वैदिक मंत्रों के समुदाय को संहिता कहते हैं। संहितायें चार हैं–(१) ऋक्, (२) यजुः, (३) साम तथा (४) अथर्व संहितायें। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने किया था। वेदों को त्रयी के नाम से भी पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें तीन वस्तुयें प्रधान पायी जाती हैं। ऋक्, साम, यजुः। पाद से युक्त छंदोबद्ध मंत्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। इन ऋचाओं के गायन को साम कहते हैं तथा इन दोनों के पृथक गद्यात्मक वाक्यों को यजुः कहते हैं। इसी कारण वेद त्रयी के नाम से अभिहित होता है। प्रत्येक संहिता की विभिन्न शाखाये हैं। पुराणों में भी वेदों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। वेदों की शाखा विभाग का निरूपण श्रीमद्भागवत पुराण में विस्तार के साथ किया गया है। वैदिक शाखाओं की संख्या के विषय में मतभेद है। चरण व्यूह नामक परिशिष्ट ग्रंथ में ऋग्वेद की ५ शाखाओं, यजुर्वेद की ८६ शाखाओं, साम की १०० शाखाओं तथा अथर्व की ९ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। इससे वेदों के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। जीवन के प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य अवस्था में ये सभी पढ़े जाते थे। जो वेद में लिखा है, वही धर्म समझा जाता था—(वेदो हि धर्ममूलो)। हरएक प्रश्न का उत्तर वेदों से दिया जाता था। प्रत्येक वेद के ब्राह्मणों की रचना अलग-अलग की गयी। पहले ब्रह्मचारी को सभी पुस्तकें पढ़नी पढ़ती थीं। पर कुछ समय के बाद प्रत्येक के लिए सबका पढना सम्भव न हो सका। अतएव विभिन्न शाखाएँ हो गयीं जिनको उसी शाखा के ब्राह्मण पढ़ने लगे। वाणप्रस्थ आश्रम में जो भाग पढ़ा जाता था, उसे 'आरण्यक' कहते थे। अन्तिम भाग को उपनिषद् का नाम दिया गया है। इसमें ईश्वर की विवेचना है। संसार से अलग रहकर मति माया से पृथक करने के लिए सबको शिक्षा देता है।

संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग हो जिसके तिथिनिर्णय के सम्बन्ध में इतना विरोध हो जितना वेदों के सम्बन्ध मे है। भारतीय तो इनको अपौरुषेय मान कर तिथि का विचार या प्रश्न नही उठाते। परन्तु पश्चिमी विद्वान् विभिन्न मार्गों से विभिन्न निर्णयों पर पहुँचे हैं। भारत में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ऋग्वेद का समय ईसा पूर्व ६,००० वर्ष निश्चित करते हैं। जैकोबी तथा विन्टरनित्स ने वैदिक साहित्य का आरम्भ क्रमशः ४,५०० वर्ष तथा २,५०० वर्ष ईसा पूर्व माना है। उपनिषदों के रचनाकाल को ध्यान में रखकर विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि उपनिषदों से १,५०० वर्ष पूर्व वैदिक साहित्य का प्रारम्भ हुआ। अतः ईसा पूर्व ३,००० वर्ष में वेदों की रचना का ज्ञान होता है। इस तरह यह विषय अभी तक तय न हो सका है और वेदों का रचना-काल अभी एक विवादास्पद विषय है।

जैसा ऊपर कहा गया है, वेदों का भाष्य ब्राह्मण कहलाया। ब्राह्मण शब्द का अर्थ है वे ग्रंथ जिनका सम्बन्ध ब्रह्म से है। ब्राह्मणों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ का विस्तृत विवेचन है। यज्ञ-यागादिक विधानों का जितना विस्तृत और व्यापक वर्णन ब्राह्मणों में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। इसके तीन भेद हैं—

(१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक, तथा (३) उपनिषद्।

आरण्यक जंगल में पढने योग्य ग्रंथ समझे जाते हैं। उपनिषद् में वेद के आध्यात्मतत्व का विवेचन साङ्गोपाङ्ग रूप से किया गया है। भारतीय साहित्य में वेदों के गूढ़तम रहस्यों का प्रतिपादन करने के कारण प्रस्थानत्रयी में ये प्रथम स्थान पर रक्खे जाते है। ब्राह्मण साहित्य किसी समय बहुत विस्तृत था। प्रत्येक वेद के एक न एक ब्राह्मण का नाम प्रसिद्ध हो गया। ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण, ताड्य सामवेद का, कृष्ण यजुर्वेद का तैतरीय तथा शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मणों के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक ब्राह्मण में विशिष्ट अन्तर है।

वेदों की भांति ब्राह्मण के पाठों को भी असाधारण धार्मिक श्रद्धा से सुरक्षित रक्खा गया है। इनका भी समय निश्चित करना कठिन है। ब्राह्मणकाल में क्रियात्मक क्षेत्र 'कुरु पंचाल' जनपद हो गया था, जो धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हो गया। ब्रह्मावर्त में संस्कृति का विकास हुआ जिसे ब्राह्मण संस्कृति कहते हैं। कुछ देवता जो वैदिककाल में गौण थे, अब विशिष्ट हो गए। हमारा धर्म संसार के सब धर्मो से श्रेष्ठ तथा उन्नत है। क्योंकि वैदिक धर्म किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित नहीं किया हुआ है, बल्कि वह अनादि काल से चला आ रहा है। अपौरुषेय वेद के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण यह वैदिक धर्म कहलाया। वैदिक धर्म का पूर्ण प्रतिपादन उसके साहित्य में मिलता है।

सर्वसाधारण उस साहित्य से परिचित न थे, पर विशिष्ट शिष्यों को वन में इसे पढाया जाता था। ब्राह्मण धर्म के आदर्श आश्रमों के स्थापित हो जाने पर सहज ही में इन आरण्यकों का पढ़ना वनवासी ऋषियों का कर्तव्य हो गया। उपनिषद् भी इनके साथ ऐसे घने तौर पर जुड़े हुए हैं कि उनको पृथक् करना कठिन है। उपनिषद् वेदान्त हैं तथा वे बाद में लिखे गए थे। इन ग्रंथ-रत्नों में वैदिक ऋषियों ने आध्यात्म विद्या के गूढ़तम रहस्य का विशद विवेचन किया है। भारतीय विचार शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थानत्रयी में प्रमुख माने गए हैं। कहा जा चुका है कि उपनिषदों का विषय दार्शनिक है। इनके कारण ही वेदों का रहस्य लोगों को मालूम हुआ। दो सौ उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों से बतलाया जाता है। पर वास्तव में कुछ ही सम्पर्क रखते हैं। अधिकतर उपनिषद् दार्शनिक न हो कर धार्मिक विषयों या मतों का प्रतिपादन करते है। बाद के धार्मिक सम्प्रदायों ने कुछ पीछे से जोड़ दिया। उपनिषदों का विषय ब्रह्मा, आत्मा और ब्रह्माण्ड है। ब्रह्म तथा आत्मा की अमरता का संदेश उपनिषद् ही में पाया जाता है। उपनिषद् में आत्मा के स्वरूप की विवेचना बड़ी छान-बीन के साथ की गयी है। इनमें ब्रह्म

के दो रूपों–सगुण तथा निर्गुण का विशद वर्णन किया गया है। इसका व्यवहारपक्ष भी बड़ा ही सुन्दर है। दार्शनिक तत्वों को व्यवहार में लाना तथा मानवजीवन को प्रभावित करना भारतीय विचार-शास्त्र की विशेषता है।

वेदों के पश्चात् पठन-पाठन का विषय वेदांग था। उपनिषद् में अपरा विद्या के साथ वेदांग की समता की गयी है। वेदांग छः है—कल्प, शिक्षा, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष तथा व्याकरण। कल्प साहित्य में प्राचीनतम सूत्र-ग्रंथ सम्मिलित हैं। कल्प सूत्र जो यज्ञ-कर्मो से सम्बन्ध रखते है, श्रौत-सूत्र कहलाते हैं। श्रौत सूत्र, धर्म का इतिहास तथा यज्ञादि के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। गृह सूत्रों में मनुष्य के सोलह संस्कारों का वर्णन है। तीसरे धर्मसूत्रों में गृहस्थ और धर्म, वर्ण और आश्रम-सम्बन्धी नियम प्रस्तुत किए गए है। कात्यायन, गोभिल, पारस्कर, आश्वलायन, बोधायन, और आपस्तम्भ आदि कल्प साहित्य के रचयिता थे। वैदिक संहिताओं के पाठों का ठीक-ठीक उच्चारण शिक्षा का विषय है। पद-पाठ, गणपाठ आदि शिक्षा के आविष्कार हैं। निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष वेदों में वर्णित विभिन्न बातों के समझने में सहायता करते हैं। व्याकरण तो साहित्य की रीढ़ है। प्राचीनतम व्याकरण ग्रंथ पाणिनि का अष्टाध्यायी है। इसमें वैदिक व्याकरण का विचार कम है। कारण यह था कि साहित्य वैज्ञानिक रूप धारण करने लगा। अतएव उसके रूप को समझाने के लिए पाणिनि ने यह ग्रंथ बनाया। वेद तथा वेदांग के बाद चार उपवेदों का नाम प्राचीन काल से मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, (२) यजु: का उपवेद धनुर्वेद, (३) साम का उपवेद गन्धर्ववेद तथा (४) अथर्व का उपवेद अर्थवेद। इसके अन्तर्गत दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा ललित कला आदि हैं।

आयुर्वेद से जीवन की रक्षा होती है। चिकित्सा के अनुसार इसके आठ अंग माने गए हैं। वैद्यक शास्त्र के ग्रंथ विपुल हैं तथा

व्यावहारिक दृष्टि से नितान्त उपयोगी हैं। सुश्रुत तथा शाङ्गधर संहितायें प्रमुख ग्रंथ हैं ।

धनुर्वेद को वेद तुल्य मानते हैं । वेदों के अध्ययन तथा अध्यापन की जो व्यवस्था शास्त्रों में की गयी है, धनुर्वेद के विजय में भी वही व्यवस्था वर्तमान है।

संगीत शास्त्र सामवेद का उपवेद है। मंत्रों को विशिष्ट पद्धति से गाया करते थे। साम का गायन बडा ही मधुर तथा चित्ताकर्षक है। संगीत की उत्पत्ति उसी साम गायन से हुई। नाटयशास्त्र में संगीत का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। संगीत के विषय में भरत का अपना विशिष्ट मत था जो वर्तमान संगीत के द्वारा समझना कठिन है।

अथर्व का उपवेद अर्थशास्त्र है। यह विषय अत्यन्त प्राचीन है। इस विषय का सब से प्राचीन ग्रंथ कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। उसके आधार पर कामन्दकीय और शुक्रनीतिसार युक्ति कल्पतरु तथा राजनीति रत्नाकर लिखे गए। इस तरह अर्थशास्त्र का विषय उपादेय है। भारतीयों के ऊपर लौकिक विषयों से परांमुख होने की बात असत्य साबित हो जाती है।

उपवेदों मे चौंसठ कलाओं को भी सम्मिलित किया गया है। शुक्रनीति के कथनानुसार कलायें अनन्त है। कलाये प्राचीन काल से यहां बडी उन्नत दशा में थी।

वैदिक साहित्य के बाद जिन ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें इतिहास और पुराण प्रधान थे। शतपथ ब्राह्मण मे इतिहास-पुराण नाराशंसी गाथा का उल्लेख पाया जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण के समय इतिहास-पुराण भी वर्तमान थे। अथर्ववेद में भी ऐसा उद्धरण पाया जाता है। छांदोग्य उपनिषद् में इतिहास को पंचम वेद कहा गया है। यहां इतिहास से आख्यानों का तात्पर्य है। गाथा में वीरंकाव्यों के रचयिता सूत लोगों की कृतियां सम्मिलित थीं। अतएव किसी न किसी रूप में इतिहास विद्यमान था। कौटिल्य ने सब से पहले 'इतिहास वेद'

की गणना अर्थवेद के साथ की है। भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही बोध होता है। इतिहास के अन्तर्गत वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय संस्कृति महाभारत से प्राचीन है। परन्तु दोनों की घटनायें ऐतिहासिक हैं। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात का संकेत किया है—

इतिहास पुराणाभ्यां, वेद समुपबृंहयेत।

कालक्रम के विचार से विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि ईसा पूर्व ५०० वर्षों के समीप इन ग्रंथों की रचना हुई। तुलना में रामायण तो महाभारत से पहले की रचना है।

रामायण तथा महाभारत में अधिक भिन्नता थी। रामायण के रचयिता वाल्मीकि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और आदि कवि थे। लगभग दो हजार वर्षों से भारतवर्ष में यह सर्वप्रिय ग्रंथ है। इसकी कथा और इसके पात्र आदर्श भाव जागृत करते हैं। महाभारत एक काव्य नहीं है, पर संहिता है। कथा तथा उपकथाओं के साथ एक संपूर्ण साहित्य है। उसमे भारत युद्ध का प्रसंग मुख्य है। शताब्दियों के बाद अनेक कथाएं जोड़ दी गयीं। रामायण तथा महाभारत की कथाओं से सभी परिचित होंगे। इन तमाम बातों को ध्यान में रख कर ये महान ग्रंथ भारत के प्राचीन इतिहास कहे जाते हैं।

संस्कृत साहित्य का आदि ग्रंथ रामायण माना जाता है। वैदिक तथा शुद्ध संस्कृत साहित्य के बीच काल का यह ग्रंथ द्योतक है। संस्कृत साहित्य वैदिक से न केवल आकार में, परन्तु विषय तथा भाव में भिन्न है। वैदिक साहित्य धार्मिक ग्रंथ है, पर संस्कृत में सांसारिक बातों का भी समावेश किया गया है। वैदिक ग्रंथ शुद्ध तथा सरल ऋषियों के कथन से भरे पड़े हैं, पर संस्कृत में सारी बातें अतिशयोक्ति के साथ मिलती है। इसमे पाणिनि के व्याकरण के अनुसार ही भाषा तैयार की जाती रही, परन्तु वैदिक साहित्य में यह बात नही पायी जाती। संस्कृत साहित्य में अधिकतर काव्यमय ग्रंथ लिखे गए। संस्कृत कवि

अधिकतर राज-दरबार में रहते थे तथा राजकवि थे। अनेक ऐसे कवि हुए जिनकी कृतियाँ केवल प्रशस्तियों में मिलती हैं। दरबार में स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हुए उन कवियों ने साहित्य के भण्डार भरे और साहित्य को रसमय बना दिया। यदि शिलालेखों के काव्य को भी ध्यान में रक्खा जाय तो संस्कृत साहित्य का प्रारम्भ ईसा की प्रथम शताब्दी से माना जा सकता है। महाक्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार लेख का नाम उस सम्बन्ध में लिया जाता है। गुप्तकाल में इसकी उन्नति पराकाष्ठा को पहुच चुकी थी। अंश्वघोष ने बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द नामक ग्रंथ लिख कर जनता का ध्यान संस्कृत की ओर आकृष्ट किया। उसी सिलसिले मे कालिदास, भवभूति, दण्डिन, भारवि आदि का नाम लिया जाता है। कालिदास उनमें सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। वाण का भी नाम गद्य-लेखकों में विशेषतया उल्लेखनीय है। इन समस्त कवियों के आश्रयदाता गुणग्राही शासक थे तथा स्वयं विद्वान भी थे। सारे ग्रंथों में कुमारसम्भव तथा रघुवंश दोनों महाकाव्य सर्व प्रसिद्ध हैं। शकुन्तला नाटक संसार मे एक विख्यात ग्रंथ माना जाता है और प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। गुप्तकाल के स्वर्णयुग में संस्कृत साहित्य की अत्यन्त उन्नति हुई। सब प्रकार के ग्रंथ—दर्शन, विज्ञान तथा अन्य विषयों पर भी लिखे जाने लगे। पुराणों का संस्करण निकाला गया। इस प्रकार साहित्य की उन्नति प्रत्येक प्रकार से हुई। ज्योतिष में आर्य भट्ट, बराहमिहिर के नाम गर्व से लिये जाते हैं। वृहत्संहिता ज्योतिष का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। आयुर्वेद में चरक ने विशिष्ट सिद्धान्तों को सब के सम्मुख उपस्थित किया। षड् दर्शन, अठारह पुराण, वैदिक साहित्य-विषयक अनगिनत ग्रंथों की रचना हुई। सब विषय के विस्तृत विवेचन के लिए यहां पर स्थान नहीं है और कहना असंगत भी होगा। इतना कहना पर्याप्त होगा कि संस्कृत साहित्य में प्रत्येक विषय पर कोई न कोई लिखने वाले वर्तमान थे, चाहे उनके ग्रंथ आज उपलब्ध हों या घोर अन्धकार में छिपे हों। ईसा की सातवीं शताब्दी तक प्रशंसनीय कार्य होते रहे।

ऊपर षड्दर्शन तथा अष्टादश पुराणों का नाम लिया गया है। भारत में उनका महत्व बहुत ही अधिक है। दर्शन का सम्बन्ध हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं से है। वेदों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रामाणिक तथा सत्य मानने वाले इन दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त प्रधान हैं। इनका विकास ईसा पूर्व से १५वीं सदी तक होता रहा। पुराणों का भी विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं को है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म को सुबोध कर देता है। इनका सामाजिक महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। पुराणों में भारतीय इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा पड़ा है। इनमें वर्णित इतिहास को पुरातत्व-सामग्रियों तथा यात्रा-विवरणों से पुष्ट करते हैं। अतएव पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है। पाश्चात्य विद्वान् पार्जिटर का मत था कि पौराणिक परम्परा के प्रचार सूत जाति में उत्पन्न लोमहर्षण ने किया था। परन्तु यह मत नितांत निराधार है। इसका प्रसार ब्राह्मण विद्वानों ने किया था। १८ पुराणों की बात तो सर्व प्रसिद्ध है।

भारतीय साहित्य में स्मृतियों का एक विशिष्ट स्थान है। श्रुति के बाद धार्मिक जगत में इन्हीं की मान्यता है। भारतीय कानून समझने के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है। मनु, याज्ञवल्क, नारद आदि स्मृतियों तथा जीमूतवाहन के निबंधों में भारतीय व्यवहार (कानून) भरा पड़ा है। वर्तमान मिताक्षरा तथा दायभाग हमारे धर्मशास्त्रों पर अवलम्बित हैं। स्मृतियों में आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त का विवेचन मिलता है। सूत्रों में जो बातें सूक्ष्म रूप से लिखी गयी हैं, उन्हीं का स्मृतियों में पद्यात्मक वर्णन मिलता है। भारतीय समाज की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है। समाज का विस्तृत वर्णन सभी स्मृतियों में मिलता है। प्रायः २०० ई० से ८०० ई० तक सभी स्मृति-ग्रंथ रचे गए थे। इसका साहित्य विशाल है। मनु, याज्ञवल्क,

नारद, पराशर, कात्यायन, अंगिरस, यम, व्यास तथा हारीत प्रधान ग्रंथ माने गए हैं। इन पर अनेक टीकायें हुईं जिनमें टीकाकार ने धर्म के रूप को समझाने का प्रयत्न किया है। स्मृतियों के बाद निबंधों की संख्या कम नहीं है। उनमें जीमूतवाहन, रघुनंदन, चण्डेश्वर, वाचस्पति, नारायण भट्ट तथा कमलाकर भट्ट प्रसिद्ध हैं। इनकी विशेषता यह है कि निबंधकारों ने जो धर्म, व्यवहार या प्रायश्चित का स्वरूप स्थिर कर दिया था, वही आजकल समाज में वर्तमान है और सारा धार्मिक कार्य उन्हीं के बतलाये मार्ग पर होता है।

इस विषय को समाप्त करते हुए बौद्ध साहित्य के विषय में कुछ कहना असंगत न होगा। संस्कृत साहित्य में ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने ही कार्य किया। परन्तु ईसा पूर्व ६०० से भारत में बौद्धधर्म के उदय होने पर जनता मे वैदिक साहित्य का पठन-पाठन बंद हो गया। बहुत समय तक बुद्ध भगवान के उपदेश लिखे नही गए। राजधर्म होने के कारण भिक्षुओं के अनुसार ही सबका आचरण हो गया। समयान्तर में जो पुस्तकें लिखी गयीं, उन्हें त्रिपिटक कहते हैं। ये त्रिपिटक अर्धमागधी में लिखे गए थे। ईसा की चौथी सदी मे ब्राह्मणधर्म का प्रभाव बुद्धधर्म पर हो गया और हीनयान का महायान रूप में परिवर्तन हो गया। महायान के अभ्युदय के साथ बुद्ध धर्मावलम्बियों ने संस्कृत को अपनाया और उनके ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए। बौद्ध साहित्य में धार्मिक विषयों के अतिरिक्त सांसारिक बातों पर भी प्रकाश डाला गया। विनय तथा अभिधम्म के सिवाय बुद्ध के पूर्व जीवन को लेकर (अवतारों की कथा) जातक ग्रंथ लिखे गए। भिक्षुओं ने संस्कृत में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे जिनका सीधा सम्बन्ध उस धर्म से न था। दिङनाग, धर्मपाल, चन्द्रकीर्ति, बुद्धघोष, चन्द्रगोमिन, कुमारजीव आदि आचार्यों के रचित ग्रंथ भरे पडे हैं। इन मार्गो से संस्कृत साहित्य की अधिक अभिवृद्धि हुई।

भारत में संस्कृति को चरम सीमा तक ले जाने में जैन मुनियों

ने भी सहायता की। यह काल जैन साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग कहलाने योग्य है । जैनधर्म का उदय तो बौद्धधर्म के साथ-साथ हो चुका था। जनता में इसका प्रचार भी हो गया। परन्तु जैन आगम गुप्तकाल में लिपिबद्ध हुए। जैन न्याय को क्रमबद्ध करने का श्रेय इसी काल को है। जैन कवियों तथा दार्शनिकों का विशेष परिचय देना विषयान्तर होगा। भगवान महावीर के उपदेशों को आगम कहते हैं। सिद्धसेन दिवाकर जैन न्याय के जन्मदाता थे। समन्त भद्र तथा देवनन्दि भी जैनदर्शन के विख्यात आचार्य थे। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि की।

तंत्र साहित्य के वर्णन के अभाव में भारतीय साहित्य का विवेचन अपूर्ण ही रहेगा। तंत्र के विषय में लोगों में अनेक भ्रम फैले हैं। तंत्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त अथवा अनुष्ठान के रूप में होता है। आगम से तो भोग तथा मोक्ष के उपायों का तात्पर्य माना गया है। निगम वेद को कहते हैं। कलि में तांत्रिक उपासना का महत्व है। प्रत्येक धर्म या मत में पृथक्-पृथक् तंत्रों के नाम मिलते हैं। वैष्णा-वागम को पांचरात्र कहा जाता है। इस मत का तंत्र विषयक साहित्य नितांत प्राचीन तथा विस्तृत है। इसी प्रकार शैव तंत्र तथा शाक्त तंत्र का विपुल साहित्य है। इसी के प्रभाव से बौद्धधर्म में भी मंत्र-तंत्र का उदय हुआ। महायान में मंत्र के कारण जो विकास हुआ, उसे वज्रयान कहते हैं। इस यान के साथ चौरासी सिद्धों का नाम लिया जाता है जो हिन्दी भाषा के आदि कवि भी माने जाते हैं।

ऊपर कथित संक्षिप्त विवरण से भारतीय साहित्य के भण्डार का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इस साहित्य में प्रत्येक विषय पर प्रकाश डाला गया है, पुस्तकें लिखी गयी हैं तथा इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए प्रयत्न किया गया है।

शिक्षा-प्रणाली

भारत में शिक्षा का कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से होता रहा

है। शिक्षा का प्रारम्भ भी धार्मिक कृत्य के साथ किया जाता था। आजकल शिक्षा का प्रारम्भ अक्षरारम्भ से समझा जाता है, परन्तु वैदिक काल में इस प्रकार का कोई धर्म का काम नही किया जाता था। उस समय के धार्मिक कृत्य को 'उपनयन' कहते थे। इस शब्द का अर्थ यही था कि इस संस्कार के बाद बालक गुरु के समीप शिक्षा के लिए लाया जाता था। वेदों में उपनयन का क्या सिद्धान्त था, इसको निश्चित रूप से नही कहा जा सकता; परन्तु स्मृति-ग्रंथों मे उपनयन से दूसरा जन्म माना जाता है। इसी कारण, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाए। यहां तक कि शिक्षा के कार्य आरम्भ करते समय विद्यार्थी को हर एक अवस्था में उपनयन करना पड़ता था। वैदिक शिक्षा कण्ठगता थी। अतएव छोटी अवस्था से ही शिष्य को उच्चारण की विधि बतलायी जाती। इसकी परम्परा मौखिक रूप से ही चली आ रही है। जब लेखन-कला का जन्म हुआ, तब उसके साथ व्याकरण आदि शास्त्रों का विकास हुआ। वेद को कंठस्थ करने से पूर्व कुछ प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य समझी जाने लगी। उसी काल से उपनयन से शिक्षा का आरम्भ न होकर विद्यारम्भ से होने लगा। पीछे चलकर विभिन्न वर्णो के लिए गुरु के समीप जाने का अवसर पृथक् हो गया। अतएव द्विज वर्णो के लिए उपनयन का समय अलग-अलग निश्चित हो गया। मनु आदि ने उपनयन से रहित व्यक्ति को 'व्रात्य' कहा है। इससे बचने के लिए उपनयन के बाद शिष्य शिक्षा प्राप्त करने गुरु के पास जाने लगा।

धार्मिक कृत्य को समाप्त कर विद्यार्थी गुरु के पास विद्याभ्यास के लिए जाया करता था। प्राचीन काल में दो प्रकार के गुरु थे। एक आचार्य जो निःशुल्क शिक्षा देते थे। साधारणतया आचार्य जंगल में रहा करते थे। शिष्य आचार्य के सभी कार्य को करता तथा भिक्षा मांग कर गुरु तथा स्वयं अपने भोजन का प्रबंध करता था। दूसरे प्रकार के शिक्षक का नाम उपाध्याय था। वह विद्यार्थी से शुल्क (फीस) लेकर शास्त्रों का ज्ञान कराता था। वह अधिकतर गृहस्थ

हुआ करता था। वह शिष्य के भोजन, निवासस्थान तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रबंध करता था। निर्धन विद्यार्थी गुरु के गृह-कार्य को करते और विद्याभ्यास करते थे। प्राचीन ग्रंथों में कहीं भी गुरु के वेतन का उल्लेख नही मिलता। उस समय अधिकतर ब्राह्मण ही शिक्षक का कार्य करते थे। पर यह कोई निरपवाद नियम न था। जनक, प्रवाहन, जैवलि और अश्वपति सरीखे क्षत्रिय शासकों ने भी शिक्षक का कार्य किया था। द्विजमात्र को वैदिक शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था।

प्रत्येक वर्ष के श्रावण मास से शिष्य अपना पठन-पाठन प्रारम्भ करता था। इसे उपाकर्म अथवा श्रावणी कहां जाता था। प्राचीन समय में जब केवल वेदों का ही अध्ययन किया जाता था, तब विद्यार्थी छः मास गुरुगृह में विद्याभ्यास करते थे। पौष मास तक वार्षिक कार्य समाप्त कर उत्सर्जन किया जाता था। उपनिषद काल में जब वेदाङ्ग का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया, तब केवल छः मास में कार्य न हो कर वर्ष भर तक शिष्य को पठन-पाठन जारी रखना पड़ता था। पहले चारों वेद, फिर दूसरे भाग में वेदाङ्ग—व्याकरण, छन्द, निरुक्त, कल्प, शिक्षा तथा ज्योतिष की शिक्षा दी जाती थी। समयान्तर में इन विषयों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, नाराशंसि-गाथा का नाम पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। छान्दोग्य उपनिषद् में इस पाठ्यक्रम का वर्णन मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि वेदाङ्ग के अतिरिक्त धनुषकला, सर्पविद्या, निधिकला आदि की शिक्षा दी जाने लगी। यज्ञ आदि में सूक्ष्म विचार के कारण वेदाध्ययन ब्राह्मण जाति में सीमित रह गया और अन्य जातियां धनुष-कला, धर्मशास्त्र, कौशलकला की ओर आकृष्ट हो गयीं। महाभारत तथा रामायण में इनके पढ़ाए जाने का उल्लेख मिलता है। इसी काल (वेदोत्तर काल) में इन विद्याओं का विकास हुआ और सब का ध्यान उस पर चला गया। गुरुगृह अथवा गुरुकुल में बारह वर्ष तक लगातार विद्याभ्यास किया जाता था। इस अवधि में विद्यार्थी

वेदों का ज्ञान कर सकता था। सभी शास्त्रों को पढ़ने के लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता थी। चीनी यात्रियों ने इस बात का वर्णन किया है कि कुछ ब्रह्मचारी जीवन भर गुरु-आश्रम में विद्याभ्यास करते थे। उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे। विद्याभ्यास करते समय भी गुरु शिष्य को प्रत्येक मास की पूर्णिमा, प्रतिपदा तथा अष्टमी को अवकाश दिया करता था। दुर्दिन में भी गुरु शिक्षा-कार्य बन्द कर देता था। आश्रम में कोई अतिथि आता, तो समस्त विद्यार्थियों को छुट्टी दे दी जाती थी। गुरुकुलों में कोई लम्बा वार्षिक अवकाश न रहता था। अवकाश होने पर भी शिष्य अपनी जन्मभूमि को वापस नहीं लौटता था। सारी विद्या समाप्त कर (२५ वर्ष की आयु तक) गुरुगृह को छोड़ता था। उस समय ब्रह्मचारी की कोई परीक्षा न ली जाती थी। प्राचीन समय में परीक्षा का अस्तित्व न था। गुरु प्रतिदिन शिष्य के पढे हुए पाठ को सुनकर अगला पाठ पढ़ाता था। शिक्षा समाप्त करने पर गुरु शिष्य को अन्तिम आशीर्वाद देता था जिसे समावर्तन संस्कार कहते थे। बहुत-सी बातों के साथ गुरु कहता था कि—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि की सेवा तथा उनका आज्ञापालन करना, धर्म से विमुख न होना, सत्य को न छोड़ना। तैतरीय उपनिषद् में समावर्तन का पूरा वर्णन मिलता है। इसे समाप्त कर शिष्य शक्ति के अनुसार गुरुदक्षिणा दिया करता था। आचार्य द्वारा गुरुदक्षिणा देने की प्रथा अब तक चली आती है। जीवन की पहली सीढ़ी (ब्रह्मचर्य) को पार कर वह व्यक्ति विवाह करता, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता, पर गुरु के आज्ञानुसार (स्वाध्यायान्मा प्रमद) स्वाध्याय कभी न छोड़ता था। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर बौद्धयुग के पूर्व तक शिक्षा का क्रम चलता रहा।

बौद्धधर्म के अभ्युदय से प्राचीन हिन्दू शिक्षापद्धति में परिवर्तन हो गया। उस काल में शिक्षा गुरुकुल अथवा गुरुगृह में न

होती थी। विहारों में शिक्षा का प्रबन्ध होने लगा। संघ में प्रविष्ट होकर प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी भिक्षु शिक्षक के समीप विद्याभ्यास करता था। इन मठों में केवल भिक्षु ही पठन-पाठन न कर सकता था, बल्कि बौद्धधर्मावलम्बी सभी लोग शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। साहित्य, व्याकरण तथा कोष की शिक्षा दी जाती थी। जातकों में वर्णन मिलता है कि तक्षशिला, काशी, राजगृह तथा मिथिला के विहारों में बालक शिक्षा प्राप्त करने जाया करते थे। वहां पर पढने की तिथि निश्चित न थी। नए छात्रों को सर्वप्रथम पाली तथा संस्कृत पढ़ाया जाता था। तत्पश्चात् उन्हें विनय, पातिमोक्ख तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। बौद्धकाल में भी उपाध्याय शिष्यों की सब आवश्यकताओं को पूरा करता था। उस समय की संस्थाओं में सब वर्णों को समान शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध शिक्षक त्रिपिटकों का अध्ययन करते थे। इसके अतिरिक्त जातकों में अठारह शिल्पों का उल्लेख मिलता है। इनमें मुख्यत: धनुषकला, मंत्रविद्या, सर्पविद्या और आयुर्वेद के नाम मिलते हैं। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त व्यवहार, गणित, कृषिकला, व्यापार, गान तथा चित्रकला की शिक्षा सर्वत्र दी जाती थी। बौद्ध विद्यार्थी इतने से ही सन्तुष्ट न होते थे, वरन् धार्मिक वाद-विवाद तथा खण्डन के लिए हिन्दू शास्त्रों का भी अच्छा अभ्यास करते थे। कालान्तर में जो विहार थे, वे शिक्षा के केन्द्र बन गए।

बौद्धधर्म का ह्रास होने पर ब्राह्मण शिक्षापद्धति का फिर से उद्धार हो गया। ईसा की सदियों में समाज को दो भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी। शिक्षित समाज संस्कृत तथा साधारण जनता प्राकृत पढ़ती थी। वेदाध्ययन उसी प्रकार चलता रहा। वेद के साथ-साथ अन्य विद्याओं का अभ्यास प्रारम्भ हो गया। गुप्तकालीन लेखों में चौदह प्रकार के विद्यास्थान का उल्लेख मिलता है। वेद, वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का पठन-पाठन

होने लगा। उस समय प्रारम्भ में व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। ईसा की छठीं सदी में यात्रियों ने वर्णन किया है कि आयुर्वेद, ज्योतिष तथा तर्क-विद्या का अभ्यास कराया जाता था। उस समय के वैद्यक ग्रंथ में औषधि तथा अस्त्र-चिकित्सा का पूर्णतया वर्णन मिलता है।

पठन-पाठन का कार्य तो वैदिक काल से अखण्ड चला आ रहा था। परन्तु आधुनिक काल की तरह प्रारम्भिक शिक्षा का अभाव था। उस समय लिखने की कला का जन्म न हुआ था। विद्या कण्ठ-गता थी, अतएव पढ़ना, लिखना तथा अरिथमेटिक की (प्रारम्भिक शिक्षा) शिक्षा न दी जाती थी। व्याकरण तथा उच्चारण का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। ब्राह्मण काल से प्रारम्भिक बातों (लिखना, पढ़ना आदि) का जानना आवश्यक था। स्मृति में इन बातों का उल्लेख नहीं पाया जाता, परन्तु ईस्वी सन् से प्रारम्भिक शिक्षा का विकास पूर्ण रूप से हो गया। चीनी यात्रियों ने इसका वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। यह कार्य गाँव के मन्दिरों में पुजारी द्वारा किया जाता था। प्रत्येक ग्राम में पाठशालाएं वर्तमान थीं। राजनीति तथा इतिहास के ग्रंथों में प्रारम्भिक पाठशालाओं का उल्लेख सर्वत्र पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त जो पाठ्यक्रम था, उसे उच्च शिक्षा के नाम से पुकारते थे। वैदिक युग में वेद तथा शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया जाता था, परन्तु बौद्ध धर्म में प्रचारक की भावना को लेकर सब विषय की जानकारी ही हितकर समझी जाती थी। उच्च शिक्षा में कारीगरी तथा पेशा-सम्बन्धी विषय भी सम्मिलित थे। कुछ विद्वान एक विषय—साहित्य, न्याय, व्याकरण अथवा ज्योतिष—को लेकर विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। हिन्दू काल में पाठ्यक्रम में कला तथा विज्ञान का सुन्दर मेल था। पर पीछे इसको दो भागों में बांट दिया गया। पहला धार्मिक तथा दूसरा

सांसारिक। धार्मिक शिक्षा सिर्फ ब्राह्मण जाति के लिए निश्चित हो गयी और अन्य सांसारिक विषयों को दूसरी जातियाँ पढने लगीं। इस प्रकार समाज में चारों वर्णों के लिए शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था।

प्राचीन समय में स्त्री तथा पुरुष की शिक्षा का प्रबन्ध समान रूप से होता था। बालिकाएँ विद्याभ्यास के लिए ब्रह्मचर्य धारण करतीं। घोषा तथा लोपामुद्रा के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जिन्होंने वेद-मन्त्रों की रचना की थी। रामायण में तारा और कौशल्या के यज्ञ-सम्बन्धी कार्य का वर्णन मिलता है। प्राचीन समय में स्त्रियाँ पूर्ण शिक्षिता थीं। स्मृतिकारों ने भी स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया है और उसकी आवश्यकता बतलायी है। बौद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तार' में उल्लेख मिलता है कि सभ्य स्त्रियों में पढ़ने-लिखने, कविता करने तथा शास्त्राध्ययन करने का प्रचार था। उच्च कुल की नारियाँ गान, नृत्य और चित्रकला में ज्ञान प्राप्त करती थीं। कालिदास ने लिखा है कि यक्ष की पत्नी पति के साथ पद्यमय गीतों की रचना करती थी। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा का विकास तथा प्रचार हो गया था।

राज्यशासन को सुन्दर ढंग से चलाने के लिए राजकुमारों को विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। राजनैतिक ग्रंथों में राजकुमारों की शिक्षा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथ से भी उनकी शिक्षा का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। कौटिल्य ने लिखा है कि प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर रूप, लेख, गणना तथा धनुष-विद्या राजकुमारों को सिखलायी जाती थी। रामायण में इसका उल्लेख मिलता है—"धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः (सुन्दर काण्ड)।" याज्ञवल्क्य स्मृति में राजकुमारों के लिए अन्वीक्षकी, दण्डनीति, वार्ता तथा त्रयी (तीन वेद) पाठ्य विषय समझे जाते थे। कुछ वार्ता और दण्डनीति को ही आवश्यक विषय

बतलाते है। पंचतंत्र मे विष्णु शर्मा द्वारा राजपुत्रों की शिक्षा का वर्णन विदित है। ईसा के कई सदियों बाद के लेखों में राजाओं की बड़ी प्रशंसा मिलती है, जो कला व विद्याओं में निपुण होते थे। ये सब बातें राजकुमार के विशेष शिक्षा-क्रम की ओर संकेत करती हैं। प्राचीन समय मे राजा विद्वान तथा पंडितों का आश्रयदाता हुआ करता था। भारत में इस प्रकार शिक्षा-प्रबन्ध होने पर किसी राजकीय शिक्षालय का वर्णन नही मिलता है। चूंकि शासक प्रजा के मानसिक विकास पर भी ध्यान देता था, अतएव राजा शिक्षालयों को सहायता दिया करता था। शासक तत्कालीन शिक्षालयों को आर्थिक सहायता देकर चुप न बैठते थे, पर आचार्य तथा शिक्षा के सुप्रबन्ध के लिए चिन्तन किया करते थे। वे इसके प्रचार में परिश्रम करते तथा उत्साह दिलाते थे।

आजकल प्राचीन गुरुकुलों का नाम ही रह गया है। पर बौद्ध युग में जो मठ शिक्षालय का काम करते थे, उनके भग्नावशेष मिले हैं। उनको देखने से पता चलता है कि कितना सुन्दर प्रबन्ध था। द्वारपण्डित, आचार्य तथा विद्यार्थियों के रहने का पृथक्-पृथक् कमरा था। पढ़ने व सोने के स्थान का प्रबन्ध था। जो विहार वर्तमान विश्वविद्यालय की तरह हजारों विद्यार्थियों को शिक्षा देते और उनके लिए छात्रावास रखते थे, वे तक्षशिला, मथुरा, सारनाथ, नालंदा, विक्रमशिला, ताम्रलिप्ति में मौजूद थे। यहां से सहस्रों भिक्षु अथवा अन्य विद्यार्थी शिक्षा पाकर निकले जिन्होंने संसार में भारत का नाम प्रसिद्ध किया।

भाषा के साथ लिपि के विषय में भी दो शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कहा गया है, वैदिक साहित्य का अध्ययन पूर्व में गुरु-परम्परा के कारण चलती रही। कण्ठगता विद्या को लिपिबद्ध करने की जरूरत समझी गयी और उसी समय से लिखने की कला आरम्भ हुई। उस समय किस लिपि का प्रयोग किया जाता था, यह कहना कठिन है। परन्तु ईसा पूर्व तीसरी सदी

के मौर्यकालीन लेखों में दो प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं। पहली लिपि जो उत्तर-पश्चिम भारत में प्रयोग की जाती रही, खरोष्ठी के नाम से पुकारी जाती है। यह वर्तमान अरबी लिपि की तरह दायें से बायीं ओर लिखी जाती थी। अशोक के शहबाजगढी तथा मनसेरा के शिलालेखों में इसी खरोष्ठी का प्रयोग मिलता है। भारत के शेष भागों में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था। यह बायें से दायीं ओर (वर्तमान हिन्दी की तरह) लिखी जाती थी। उसीका विकास भारत में होता गया। ईसा पूर्व तीसरी से बारहवी सदी तक इसी ब्रह्मी के विभिन्न रूपों को लेखों में काम लाते रहे। ब्राह्मी के गुप्तकालीन लिपि को गुप्तलिपि का नाम दिया गया और उसके बाद कुटिल तथा नागरी लिपियों का क्रमिक विकास होता गया। नागरी ही नहीं, दक्षिण भारत की लिपियों, गुजराती, उड़िया, बंगला आदि का विकास भी ब्राह्मी से ही हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय लिपियों का विकास ब्राह्मी से हुआ जो सबकी जननी समझी जाती है। इसी प्रकार अंकों का भी विकास प्राचीन अंकों से होता गया। अंकों की दशमलव-पद्धति सर्वप्रथम भारतीय लेखों में ही पायी जाती है। इसी ढंग तथा अंकों के आकार को पश्चिमी देशों ने अपनाया और सुविधा के अनुसार उसका रूप परिवर्तित कर दिया। इसलिए भारतीय अंक हिन्दसा के नाम से अरब में प्रसिद्ध हुए।

भारत की ललित-कला

संसार में दो प्रकार की वस्तुएं दिखलाई पड़ती हैं---एक प्राकृतिक और दूसरी कृत्रिम। प्रकृति परमपिता परमेश्वर की महिमा का गुण-गान करती है और संसार की अन्य वस्तुएँ मनुष्य के युग-युग-व्यापी सृजन शक्ति के कौशल का परिचय देती हैं। यह कहना कठिन है कि विश्व में ललित कलाओं का आरम्भ कब हुआ। मनुष्य के आविर्भाव के साथ-साथ सौदर्य-दर्शन की भावना उसमें विद्यमान थी। इसी को मनुष्य ने विभिन्न तरीके पर अभिव्यक्त किया। अतएव अस्पष्ट आन्तरिक भावना की अभिव्यक्ति को कला द्वारा प्रदर्शित किया गया। विद्वानों का मत है कि अन्धविश्वास तथा खानाबदोश जीवन के कारण सर्वप्रथम पशुओं का समावेश कला में किया गया। कालान्तर में ज्यों-ज्यों सभ्यता फैलती गयी, कला का विकास होता गया। कला दो प्रकार की मानी गयी है---(१) स्थित, तथा (२) गतिशील। स्थित कला के अन्तर्गत वास्तु, तक्षण तथा चित्रकलाएँ हैं और गतिशील कला में गति व भाव-व्यंजना का द्योतक संगीत आदि सम्मिलित हैं।

धर्मप्रधान देश होने के कारण भारत में प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भ धर्म से सम्बन्धित है। भारतीय कला धर्म-प्रधान है और इसका जन्म धर्म ही के कारण हुआ। इतिहास के जाननेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व प्रस्तर-युग की सामग्रियाँ यह बतलाती हैं कि उस समय के लोग भी कला से सर्वथा अनभिज्ञ न थे। प्रस्तर के पालिशदार औजार मिर्जापुर, रीवाँ, छोटानागपुर आदि स्थानों में मिले हैं जो मनुष्यों की कारीगरी को बतलाते हैं। दक्षिण में बिलारी जिले में मिट्टी के बरतन मिले हैं। प्रस्तर की

शिलाओं पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्जापुर, होशङ्गाबाद और कैमूर की पहाड़ियों में पाए जाते हैं। मोहंजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता का पता सिन्धु तट की खुदाई से ज्ञात हुआ है। मोहंजोदड़ो में पुरानी इमारतों की सात तहें मिली हैं। आज से पाँच हजार वर्ष पहले की पक्की ईंटों का महल भारतीयों की कारीगरी बतलाता है। सिन्धु तटवालों में धर्म के भाव भी थे। वे लोग धरती को माता अथवा देवी मानकर नग्न रूप में उसकी मूर्त्ति बनाकर पूजा करते थे। मुद्रा पर खुदी, पशुओं से सेवित योगासनस्थ शिव की मूर्त्ति कला का द्योतक है। स्वाभाविक आकार के पशु-पक्षियों की भी मुद्राएं पाई जाती हैं। मोहंजोदड़ो में एक मानव की मूर्त्ति भी मिली है। इससे प्रकट होता है कि वैदिक काल से पहले ही मूर्त्तिपूजा प्रचलित थी ।

वैदिक काल से बौद्धयुग तक भारतीय कला का कोई नमूना उपलब्ध नहीं है। वैदिक काल में मूर्त्ति की कल्पना अवश्य थी। ऋग्वेद में वज्रधारी इन्द्र का वर्णन सुन्दर रीति से किया गया है। विद्वानों का कहना है कि ऐसा वर्णन किसी धातु-प्रतिमा के विषय में सम्भव है। वैदिक साहित्य में प्रतिमा शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'देव' मूर्त्ति तथा प्रतिमा का प्रयोग सूत्र ग्रंथों में भी मिलता है। रामायण में भी राजा दशरथ की प्रतिमा का वर्णन किया गया है। पाणिनि ने अपने ग्रंथों में प्रतिमा का उल्लेख किया है। बौद्ध युग के प्रारम्भ में विरक्त प्रधान धर्म के अन्दर साकार भगवान का समावेश न हो पाया। हीनयान सम्प्रदाय में मूर्त्तियों का अभाव रहा। बौद्ध धर्मानुयायी धार्मिक प्रतीक बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष व धर्मचक्र का पूजन करते थे। महायान सम्प्रदाय में भक्तिमार्ग का प्रचार हुआ। साधारण जनता निराकार परमेश्वर का सहज में ध्यान नहीं कर सकती थी, अतएव साकार मूर्त्तियाँ उत्तर-बौद्धयुग में बनने लगीं। चैत्य और विहार भी निर्मित होने लगे। धार्मिक भावना के परिवर्तन के साथ-साथ कला की उत्पत्ति और उसका

विकास हुआ। भारतीय ललित कला का बीज धर्म में ही निहित है।

कला में भारतीय उन्नति का अध्ययन चार विभिन्न भागों से किया जा सकता है, यानी इसकी चार शाखाओं पर विचार करना आवश्यक है।

(१) वास्तु-कला—भवन-निर्माण या उससे सम्बन्ध रखने-वाली चीजों की बनावट को वास्तु-कला कहते हैं।

(२) तक्षण-कला—मूर्त्ति बनाने की कला, चाहे वह स्तम्भ, मन्दिर, गुफा या स्वतंत्र रूप से बनायी जाय।

(३) चित्र-कला—दीवारों पर तथा वस्त्रों पर रंगों के द्वारा चित्र तैयार करना।

(४) संगीत तथा अभिनय—गाने, बजाने तथा नाटक आदि की वार्ता।

(१) वास्तु-कला

वैदिककालीन सभ्यता की शिल्प-कला का कोई नमूना नहीं मिलता है। सिन्ध की घाटी में मोहंजोदड़ो के स्थान पर खुदाई हुई है। इसमें वास्तु-कला के प्रमाण मिले हैं। यहां उस समय के मकान का सुन्दर नमूना देखा जा सकता है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारत के निवासी मकानों में स्नानगृह, अतिथिगृह, भोजन का स्थान और रहने के लिए पृथक्-पृथक् जगह तैयार कराते थे। मकानों में पानी निकलने की नालियाँ अलग से दिखलाई पड़ती हैं। उनके मकान सब चीजों से भरपूर रहते थे। मोहंजोदड़ो एक समृद्ध-शाली नगर था जिसे वास्तु-कला के विशारदों ने तैयार किया था। उसमें राजमार्ग, सड़कें तथा गलियाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही बनी हुई थीं। इसके दोनों ओर कतार में सुन्दर इमारतें खड़ी थीं। प्रस्तर के अभाव में पक्की ईंटों से उनका निर्माण हुआ था। पकाई गयी ईंटों का प्रयोग पुरानी इमारतों में यहीं मिलता है। कई कोठे

के मकान पर चढ़ने के लिये सीढ़ियां बनी थीं। इससे स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वर्तमान युग की तरह भवन के पूर्व निश्चित स्वरूप (प्लान) तैयार कर क्रमशः इमारत खड़ी की गयी थी। इस कारण मोहंजोदड़ो का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। रामायण तथा महाभारत आदि ग्रंथों में अपने देश का वर्णन मिलता है। अयोध्या के महलों का वर्णन मनुष्य को चकित कर देता है। लंका के रावण के गृहों का हाल असत्य मालूम पड़ता है। महाभारत मे राजसूय यज्ञ का वर्णन, यज्ञशाला तथा द्वारिका व इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के महलों का वृत्तान्त मनुष्य को आश्चर्य में डाल देता है। पढ़नेवाले इसे काल्पनिक मानने लगते हैं। अति प्राचीन समय की शिल्पकला का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु यह तो निर्विवाद है कि शिल्प-विद्या ऊँची सीमा तक पहुँच गयी थी। उन ऐतिहासिक ग्रंथों के वर्णन को कोरी कल्पना मानना उपयुक्त व न्यायसंगत नहीं है।

वास्तु-कला के सबसे पुराने नमूने मोहंजोदड़ो के बाद मौर्य काल के मिले हैं। मौर्यकालीन महलों तथा किलों का वर्णन मेगस्थ-नीज के द्वारा किया गया है। उससे मालूम पड़ता है कि सम्राट् ने बहुत ही सुन्दर और मजबूत महल तैयार किया था। पाटलिपुत्र के वर्णन से मालूम पड़ता है कि नगर के चारों ओर लकड़ी की दीवार थी। भूमि के अन्दर पड़े हुए नष्ट भग्नावशेष देखने में आते हैं। यूनानी लेखक द्वारा चन्द्रगुप्त के महलों का भी वर्णन मिलता है। अशोक ने वास्तु-लका में प्रस्तर तथा ईंटका भी प्रयोग किया था। इसने स्तम्भों का निर्माण एक विशेष आयोजन के साथ किया था। प्रस्तर के विशाल खम्भों पर इतनी चिकनी पालिश मौजूद है जो उस समय की उन्नत शिल्प-कला का परिचय देती है। अशोक की इमारतों में स्तूपों की संख्या अधिक पायी जाती है। उसने देश भर में बुद्ध के शारीरिक अवशेष को सुरक्षित करने के निमित्त स्तूप तथा

भिक्षुओं के रहने के लिये मठ तैयार किये थे। उनमें सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज वे प्राचीन रूप में वर्तमान नहीं मिलते। उस समय पहाड़ों पर गुफाएँ बनाने का रिवाज था। लोमश ऋषि की गुफा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। अशोक ने भी गुफा बनाकर आजीवकों को दान में दिया था। गुफायें पर्वत के एक चट्टान को काटकर तैयार की जाती थीं; जिससे दीवार, छत और फर्श बिल्कुल चिकने तथा साफ होते थे। पत्थरों को तराशना और ऊंचे स्तूप व स्तम्भ खड़ा करना भारतीय कला की उन्नत अवस्था को बतलाता है।

ईस्वी सन् पूर्व से कई शताब्दियों तक भारत में बौद्ध इमारतें बनती रहीं। शासकों ने बौद्धधर्मानुयायी होने के कारण धर्मभावना से प्रेरित होकर और उसकी अभिवृद्धि के लिये नाना प्रकार के स्मारक चिह्न बनवाये थे जिन्हें तीन विभागों में बांट सकते हैं—

(१) स्तूप
(२) स्तम्भ या लाट
(३) गुफायें—(अ) चैत्य या मन्दिर
(ब) विहार या मठ
(स) भिक्षुगृह

जैसा कहा गया है कि स्तूप के भीतर भगवान बुद्ध के अवशेष सुरक्षित थे। उनके चारों तरफ पाषाण वेष्टनी (वेदिका-रेलिंग) तैयार की जाती, जिस पर तरह-तरह की मूर्त्तियाँ खोदी गयी थीं। उनमें बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्र अथवा जातक-कथाओं का प्रदर्शन मिलता है। कलाकारों ने इसी वेष्टनी को गुफाओं में अनेक प्रकार की मूर्तियाँ खोदकर तथा आभूषित कर नया रूप दिया था। सारांश यह है कि स्तूप के वेष्टनी की समता गुफाओं के आलंकारिक प्रस्तर पर खुदी प्रतिमाओं से की जाती है।

स्तम्भ को अधिकतर मन्दिरों के सम्मुख तैयार किया जाता था और विशिष्ट धर्म के अनुसार उसपर हिन्दू, बौद्ध या जैन चिह्न

स्थापित किया जाता था। भाजा कार्ले तथा कन्हेरी की गुफाओं में इस प्रकार के स्तम्भ मिलते हैं। उनपर सिंह तथा धर्म-चक्र वर्तमान हैं। शिवस्तम्भ पर त्रिशूल तथा वैष्णव-स्तम्भ पर गरुड़ ब्राह्मण कला में पाये जाते हैं। जैन स्तम्भ तो चौमुख तीर्थंकर से स्पष्ट प्रकट हो जाता है। अशोक-स्तम्भों पर चिह्न नहीं हैं, परन्तु उनपर लेख खुदे हैं और पालिशदार हैं।

गुफाओं में चैत्य केवल पूजा निमित्त तैयार किये जाते रहे। भाजा की गुफायें चैत्य का प्राचीनतम नमूना उपस्थित करती हैं। चैत्य में गुफा के छत्र को सहारा देने के लिये स्तम्भ रहते है। मुहाने पर भी मेहराबदार मार्ग को उठाने के लिये स्तम्भ खड़े हैं जिनके उदाहरण पश्चिमी भारत की गुफाओं में मिलते हैं।

भिक्षु के रहने की गुफायें मठ के नाम से पुकारी जाती थीं। इसमें कमरे तथा बरामदे बनाये जाते थे। कहीं बड़ा कमरा दो भागों में बांट दिया जाता था। जूनार की गुफा इस तरह की है। कालान्तर में पश्चिमी भारत के कलाकारों ने एक वर्गाकार विशाल कमरा बनाना आरम्भ किया, जिसे भिक्षुओं की सभा के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा। पहले इसमें छोटे कमरे नहीं थे। बाद में इस कमरे के चारों तरफ छोटे-छोटे घर खोदे गये और पूजा के लिये एक बड़ा कमरा निर्मित किया गया। नासिक की गुफायें इस रूप की मिलती हैं। आरम्भ में किसी प्रकार की प्रतिमायें नहीं मिलतीं, परन्तु धीरे-धीरे दीवाल पर मूर्तियाँ खोदी गयीं और स्तम्भ भी तैयार होने लगे थे। मौर्य-काल से भारत में कला का उदय हुआ। संसार में इस युग के अद्वितीय तथा सबसे सुन्दर उदाहरण प्रस्तर के बने स्तम्भों से मिलते हैं। इसमें गोल स्तम्भ के सिरे पर प्रस्तर का बना सिरा (ताज) मौजूद है और सारे स्तम्भ पर लेप इतना चिकना तथा चमकीला है कि आज तक वैसा तैयार न हो पाया। मौर्यकला स्वतंत्ररूप से भारत में विकसित हुई थी। मौर्य-युग से पूर्व कलाकार लकड़ी को प्रयोग में लाते रहे; परन्तु लकड़ी से प्रस्तर

पर आते समय उनका हस्तकौशल बढता ही गया। कुछ लोग उस लेप के कारण विदेशी प्रभाव बतलाते है, लेकिन उसमें कुछ तत्व नहीं है। मौर्यकाल से गुप्त-युग तक के (पाँच सौ वर्षों में) भारतीय कला का विशिष्ट इतिहास है। उस काल में कला के नमूने यह सिद्ध करते हैं कि उसका विकास निश्चित रूप से होता रहा। ईसा पूर्व दूसरी सदी में शुग-काल में भारहूत में स्तूप बनाया गया। उसकी वेष्टनी तथा तोरण आजकल कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वेदिका लाल चित्तीदार प्रस्तर की बनी हैं जिनपर जातक तथा अन्य बौद्ध कथायें प्रदर्शित की गयी है। कथा को प्रस्तर पर खोदकर मूर्तिमान कर दिया गया है। उनके देखने से तत्कालीन धार्मिक वेश-भूषा, ढंग, आचरण के मार्ग आदि विषयों का साधारण ज्ञान हो जाता है। उनमें जीवन दिखलायी पड़ता है। उन सभी में निराशावाद की बातें झलकती है। बोधगया में भी मन्दिर के चारों तरफ वेष्टनी है। मन्दिर को देखते हुए वेष्टनी पुरानी मालूम पड़ती है। सांची में तीन स्तूप है, जो उसी दशा में आज भी वर्तमान हैं। बड़े स्तूप को अशोक ने बनवाया था। चारों तोरण (फाटक) पीछे से जोड़े गये थे, जो वेष्टनी के मध्य में चारों दिशाओं मे दिखलाई पड़ते हैं। पाषाण वेष्टनी तो सादी हैं, परन्तु द्वार के सम्पूर्ण प्रस्तर पर जातक-कथायें खोदी गयी है। भारहूत के सदृश पूरी खुदाई है तथा मूर्तियाँ मिलती है। सांची की कला में उच्च ढंग की सुन्दरता, सगीत तथा सुडौलपन रग-रग में प्रवेश कर गयी है। कलाकारों ने पेचीदे कथानकों को सच्चे ढंग से प्रदर्शित कर सर्वसाधारण की जानकारी की वस्तु बना दिया है। इस प्रकार भारहूत, बोधगया तथा सांची के वेष्टनी पर खुदी मूर्तियाँ क्रमशः कला के विकास को बतलाती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि चैत्य में छोटे कमरों पर किसी का ध्यान न था। मध्यवर्ती मन्दिर या स्तम्भ की खुदाई पर सभी हस्तकौशल दिखलाते रहे।

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के उत्थान होने पर वैदिक देवता

का स्थान पौराणिक देवताओं ने ले लिया। विष्णु तथा शिव की अर्चा होने लगी तथा उनकी प्रतिष्ठा देवमंदिर में की जाने लगी। चपटी छतवाली इमारत में शिखर का सामावेश किया गया जिसकी ऊपरी बनावट क्रमशः पतली होती गयी। शिखर पर के आमलक तथा सबसे अंतिम भाग को कलश कहते थे। बोधगया का मंदिर इसका उदाहरण है जो पहली सदी के अंत में तैयार किया गया था। गुप्तकाल में शिखरवाले मंदिरों की कमी न थी। उसे आर्यशैली भी कहते है। मध्यकालीन मंदिरों मे खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मंदिर उसकी सुन्दरता की घोषणा करते हैं। इन मदिरों में चारों दिशाओं में चपटे भाग में भी शिखरनुमा आकृति बनी है। दक्षिण भारत के शैवमंदिरों की एक विशेष शैली थी जिसे द्राविड शैली कहते हैं। उत्तरी भारत की आर्यशैली से इसमें इतना भेद है कि ऊपरी भाग नुकीला न होकर ठोस गोलाकार होता था जिसमें कई मंजिलें दिखलाई पड़ती है। आर्य तथा द्राविड़ शिखर के सम्मिश्रण को वेसर(चालुक्य वास्तु-कला)कहते थे। दक्षिण भारत का मीनाक्षी देवी का मंदिर द्राविड़-शैली का द्योतक है।

प्राचीन भारत में गुफा खुदवाने का कार्य चलता ही रहा। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ग्वालियर राज्य में भिलसा के समीप उदयगिरि गुफा खुदवायी गयी थी। गुप्तकाल में गुहानिर्माण भी चरमोन्नति को प्राप्त कर गया था। हैदराबाद में स्थित अजंता की गुफायें संसार-प्रसिद्ध हैं, जिनमें अनेक भित्तिचित्र इसी काल में तैयार किए गए थे। वाघ नामक गुफा भी इसी युग की है। मध्यकालीन एलोरा तथा एलेफेन्टा नामक शैव गुफायें एक ही विशाल प्रस्तर चट्टान को काटकर बनी हैं। संगतराशों ने पूर्व-निश्चित अनुमान (प्लान) के आधार पर पहाड़ में गुफायें, मंदिर तथा उसी में विशाल प्रतिमायें खोदी थीं। संसार में इनका नमूना नहीं मिलता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुप्त राजाओं के शासन-काल में प्रत्येक शिल्प-शाखा के साथ

वास्तु-कला की भी उन्नति हुई। खुदाई में निकले हुए नमूनों के आधार पर उनका वर्णन सुन्दर रूप से किया जा सकता है। तत्कालीन पुस्तक 'मानसार' में राजमहलों का वर्णन मिलता है। ये कई मंजिल के होते थे। वत्सभट्टि ने मन्दसोर के लेख में लिखा है कि दशपुर के महल कैलाश पर्वत के समान ऊँचे थे। कालिदास ने भी मेघदूत में उज्जयिनी के भव्य राज-प्रासादों का सुंदर चित्र खींचा है। परन्तु इनमें से कोई वर्तमान नहीं है। गुप्त सम्राटों ने कई प्रकार के स्तम्भ बनवाए। कीर्ति स्तम्भ, ध्वज स्तम्भ तथा सीमा स्तम्भ आदि भागों में ये विभाजित किए जा सकते हैं। अशोक के स्तम्भों से ये स्तम्भ कुछ विलक्षण हैं। इनमें चिकनापन नहीं है तथा ये कई कोने के हैं। विहार भी कई मंजिल के बनते थे, जिनमें भिक्षु रहते थे तथा पठन-पाठन किया करते थे। नालंदा में उनके भग्नावशेष हैं। गुप्त-कालीन वास्तु-कला में देवताओं के मंदिर का भी विशेष स्थान है। ऊँचे चबूतरों पर (सीढ़ियों के साथ) मंदिर बनवाए जाते। शिखर-युक्त मंदिर की प्रथा उस समय से चली। भूमरा (नागोद राज्य), देवगढ़ (झांसी) में मिटरगांव के प्रसिद्ध मंदिर थे। ईसा की छठीं शताब्दी के बाद विभिन्न राजाओं ने जहाँ-तहाँ मंदिर बनवाए। पालवंशीय राजाओं ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय का भवन बनवाया। उड़ीसा के शासकों ने भुवनेश्वर का विशाल मंदिर निर्मित कराया। दक्षिण भारत में द्राविड़-शैली के मंदिर तैयार होने लगे। उनमें देवता के विशिष्ट मंदिर के अतिरिक्त गोपुरम् (मुख्य द्वार) की प्रधानता पायी जाती है। मंदिर के गर्भगृह (देवता का स्थान) में पुजारी प्रवेश करता है। दूसरे, बाहरी, मण्डप में प्रदक्षिणा मार्ग रहता है। गोपुरम् विशाल भीमकाय आकार का बनता है और प्रधान शिल्पियों की कृतियाँ उनसे प्रकट होती हैं। दक्षिण भारत में मदुरा में मीनाक्षी देवी का मंदिर सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। आबू पर्वत का तेजपाल मंदिर तथा खजुराटों का महादेव मंदिर मध्ययुग के सुन्दर नमूने वर्तमान हैं। इस प्रकार वास्तु-कला से भी

शिल्प-कलाकारों के नमूने प्राचीन आर्य-सभ्यता की महत्ता को बतलाते हैं।

मूर्ति-कला

भारत के साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारत में कला का प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से था। उस समय धार्मिक विषयों को लेकर मनुष्य का रूप दिया जाने लगा। यक्ष, नाग और देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं। अशोक (मौर्य काल) के समय से इस प्रकार का कार्य भारतीय कला में अधिक मात्रा में पाया जाता है। परन्तु इससे पूर्व शैशुनागवंशी राजाओं की साधारण बिना पालिश की हुई मूर्तियाँ मिली हैं। अशोक के समय से बौद्धधर्म-सम्बन्धी यक्ष, यक्षी तथा स्तम्भों पर पशुओं की मूर्तियाँ बनने लगीं। सारनाथ आदि स्थानों पर स्तम्भों में अत्यन्त सुन्दर पालिश की हुई पशु-मूर्तियाँ पायी जाती हैं। ये उस समय की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। संसार में ऐसी सुन्दर मूर्तियाँ किसी देश के शिल्पकार ने तैयार नहीं कीं। सिंह, हिरन, बैल आदि जानवर अपने प्राकृतिक रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उनका जितना वर्णन किया जाय, वह थोड़ा है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से बौद्धधर्म राजकीय धर्म हो गया, अतएव बौद्धधर्म-सम्बन्धी प्रतीक बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप आदि तत्कालीन कला में सर्वत्र पाये जाते हैं। भारहूत तथा सांची में उनके उदाहरण वर्तमान हैं। प्रतीक के अतिरिक्त भगवान बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी जातक-कथाएँ प्रस्तर पर खुदी मिलती हैं। उन स्थानों पर बौद्धस्तूपों पर तथा उसके वेष्टनी (रेलिंग) पर अत्यन्त सुन्दर तरीके पर यक्ष, परिचारिका, प्रतीक तथा जातक-कथाएँ खुदी हैं। उनको देखकर व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाते हैं। ग्रंथों में जिन खेलों व उत्सवों का वर्णन मिलता है, उनकी एक झलक सांची व भारहूत में पायी जाती है। भारतीय काव्यों में जिन आभूषणों तथा अलंकारों का

वर्णन किया गया है, उनके जीते-जागते उदाहरण इन स्थानों पर खुदी मूर्तियों में मिलते हैं। सृष्टि-उत्पादक वस्तुओं—कलश, मकर, घट—का समावेश तत्कालीन कला मे पाया जाता है। कमल, लता और पक्षियों की भी आकृतियाँ खचित हैं। दक्षिण भारत में भी अमरावती में ऐसी ही कला का उदाहरण पाया जाता है। स्तूप के ऊपर तथा वेष्टनी के प्रत्येक प्रस्तर पर विभिन्न पशु, जातक-कथाएँ तथा बुद्ध भगवान की योगावस्था की मूर्तियाँ खुदी हैं। आन्ध्रयुग की ललित-कला का ज्ञान उसीसे होता है। इसमें पुष्पयुक्त लताएँ खोदी गयी हैं जो सुन्दरता को कई गुना बढ़ा देती हैं। इसकी विशेषता यह है कि बेल-बूटे, लताएँ तथा पशुओं की आकृति अधिक सुन्दर ढंग से प्रदर्शित है। बुद्ध की मूर्त्तियों पर मोटे वस्त्र का पहनावा दिखलाया गया है जिससे ऊपर से अंग दिखलाई न पड़े। ईसा की पहली सदी से कुषाण राजाओं के शासनकाल में उस नये स्कूल को गान्धार-कला कहते हैं। इसका कार्य पुरुषपुर (पेशावर) के समीप होता रहा। स्वात की घाटी (प्राचीन गांधार प्रदेश) के कारण यह गांधार-कला के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ के कारीगर भूरे रंग का प्रस्तर प्रयोग करते थे। विद्वानों का मत है कि इस कला पर यूनानी कला का प्रभाव पड़ा, परन्तु भाव-प्रदर्शन तथा रचना का प्रकार सर्वथा भारतीय है। इसी समय महायान पंथ के उदय होने से बुद्ध धर्म में भक्ति का प्रवेश हो गया। भगवान बुद्ध को योगीश्वर के रूप में दिखलाया गया तथा जटाधारी बुद्ध की प्रतिमा बनने लगी। विशेष कारणों से मुखमण्डल के चारों ओर प्रभामण्डल को प्रस्तर में दिखलाया गया। सबसे पहले भारतीय कला में तपस्वी गौतम की मूर्त्ति यहीं तैयार की गयी, जिसमें केवल अस्थिचर्म ही शेष है। जातक-कथाओं की तो कोई बात ही नहीं। गान्धार-कला के पश्चात् गुप्त-युग में तीन स्थानों पर मूर्त्तियाँ सुन्दर रूप से बनती रहीं। पहला मथुरा, दूसरा सारनाथ तथा तीसरा स्थान पाटलिपुत्र था। सारनाथ का केन्द्र अशोक के समय से ही प्रसिद्ध था। वहाँ पर उसने धर्मराजिका

स्तूप तथा स्तम्भ बनवाया था। मथुरा का अभ्युदय कुषाण राज्य में हुआ तथा पाटलिपुत्र गुप्त-काल में विख्यात हुआ। मथुरा में चित्ती-दार लाल-पत्थर का प्रयोग किया जाता था। सारनाथ में चुनार के बालूदार प्रस्तर प्रयुक्त होते थे। पाटलिपुत्र में धातु-मूर्त्तियों की प्रधानता थी। उस समय की मूर्त्तियां संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। विभिन्न रंग के प्रस्तरों के अतिरिक्त सभी स्कूल की कला में कुछ-न-कुछ विशेषता वर्तमान थी। चौथी पांचवीं सदी में मथुरा-शैली की चरम उन्नति हुई जिसमें शारीरिक बनावट की विशेषता थी। मथुरा में प्रभामण्डल सादे बनाये जाते थे और वस्त्रों पर आवर्तन रहता था। उदाहरण के लिये बोधिसत्व की विशाल खड़ी प्रतिमा उपस्थित की जा सकती है। मथुरा के प्रभाव को हटाकर सारनाथ-स्कूल में निजी शैली चलायी गयी थी। वस्त्र प्रत्यादर्शी बनाये गये और प्रभामण्डल पूर्ण रूप से आभूषित किया गया। भगवानबुद्ध की धर्मचक्र परिवर्तनवाली मूर्त्ति सारनाथ-स्कूल की देन है जो प्राचीन भारत की सबसे सुन्दर मूर्त्ति मानी गयी है। गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के राजधर्म होने पर भी बौद्ध प्रतिमायें अधिक संख्या में तैयार की जाती रहीं। पौराणिक देवों में पंचदेवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश तथा सूर्य) की पूजा प्रचलित हो गयी थी, इस कारण गुप्त-काल से मध्य-युग (५००–१२०० ई०) तक इन देवताओं की मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर मिलती हैं। पाटलिपुत्र में जो प्रतिमायें बनीं, वह पाल-युगी होने के कारण "पाल-शैली" की मानी जाती हैं। इसे पूर्वी भारतीय स्कूल भी कहते हैं जिसने ८वीं सदी से बारहवीं सदी तक प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया था। इसमें कसौटी तथा काले चिकने प्रस्तर की हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियां बनती रहीं। अगली पंक्तियों में इसका वर्णन मिलेगा। भगवान बुद्ध की प्रत्येक प्रकार की मूर्त्ति, बोधिसत्व, तथा हिन्दू देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ अन-गिनत संख्या में तैयार की गयीं। मूर्त्तियों में वस्त्र का आवरण इतना पतला दिखलाया जाता था कि उनके अङ्ग साफ तौर पर दिखलाई

पड़ जायँ। पाटलिपुत्र के समीप नालंदा मे भी अच्छे प्रकार की कांस्य मूर्त्तियाँ तैयार की जाती थी। कला आदि की उन्नति से गुप्त-काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध हो गया। इस समय की कला रूपप्रधान तथा भावप्रधान थी। शिल्पकार मूर्त्तियों को अत्यन्त सुन्दर तैयार करते थे, परन्तु उसके आध्यात्मिक भावों को दिखलाने में कम सिद्धहस्त न थे। हृदय के भाव प्रस्तर की मूर्त्तियों द्वारा प्रकट हो जाते थे। पत्थर की मूर्त्तियों के समान मिट्टी की मूर्त्तियाँ भी ग्रामीण लोग बनाते रहे।

यों तो मिट्टी की मूर्त्तियाँ मोहंजोदड़ो में भी मिली हैं, परन्तु ऐतिहासिक युग के बाद इस कला में अत्यन्त अधिक विकास हुआ। प्रस्तर-कला के साथ-साथ इनकी भी उन्नति दिखलायी पड़ती है। सर्वप्रथम मिट्टी को मुलायम बनाकर हाथ से सब अंग अलग-अलग बनाये जाते थे और बाद में हाथ से जोड़ दिये जाते थे। उनकी बनावट इतनी भद्दी है कि कोई भी व्यक्ति उसे ग्रामीण कला कह सकता है। सब से पुरानी पृथ्वीमाता की मूर्त्ति मिली है। विद्वानों का मत है कि शुंगकाल से मथुरा में मृण्मयी मूर्त्तियों के लिये सांचे का प्रयोग होने लगा था। परन्तु केवल सिर ही सांचे में ढले मिले है जिनको हाथ से बनी शरीर (सिर रहित) की आकृति में जोड़ दिया जाता था। शिल्पी गुप्त-काल में पूरी आकृति को सांचे में ढालकर तैयार करने लगे थे। इस कारण तत्कालीन अत्यन्त सुन्दर मिट्टी की मूर्त्तियाँ मिली हैं। अहिक्षत्तर, मथुरा तथा काशी इसके केन्द्र थे। देव, मनुष्य, मिथुन, किन्नर तथा पशु-पक्षी सभी उस मिट्टी की कलात्मक मूर्त्तियों में स्थान पा चुके हैं। सुन्दर केश सँवारे स्त्री के सिर मिले हैं जिनसे पूरे वस्त्राभूषण का ज्ञान हो जाता है। बैसाली तथा काशी (राजघाट) में हजारों मिट्टी की मुहरें मिली हैं जिनपर छोटे लेख अंकित हैं। उन मुहरों से अनेक ऐतिहासिक समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। शासन-सम्बन्धी पदाधिकारियों की पदवियाँ तथा व्यापारिक संस्थाओं की मुहरें (Seal) मिली हैं। पहले

की अपेक्षा ये मृण्मयी मूर्त्तियाँ सुन्दर हैं और शिल्पकारों की निपुणता बतलाती हैं। मिट्टी से प्रत्येक प्रकार की आकृति तैयार होने के कारण संसार के लोगों ने गुप्त-कला की प्रशंसा की है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि राजाओं के सिक्कों पर जो आकृतियाँ बनने लगीं, वह किसी प्रकार घट कर न थीं। वस्त्राभूषण से सुसज्जित राजा की छोटी प्रतिमा सिक्कों पर मिलती है। ये सब भारतीय कला की विशेषता को बतलाते हैं। ईस्वी सन् छठी सदी (हर्ष के बाद) के पश्चात् भारतीय तक्षण-कला की अवनति प्रारम्भ हो गयी। साम्राज्य नष्ट हो गए तथा छोटे-छोटे शासक राज्य की लिप्सा में युद्ध करते रहे। किसी का ध्यान ललित-कला की ओर न था। केवल बंगाल के पास बंगीय नरेशों ने इसे प्रोत्साहन दिया। पाल राजाओं के समय की मूर्त्तियाँ काले चिकने पत्थर की बनती रहीं। उनकी अपनी विशेषता थी। पाल-युग में प्रचलित कला के ढंग को 'पाल-शैली' कहते थे। मध्ययुग में ब्राह्मण मूर्त्तियों को विशेष रूप से स्थान दिया गया था। पालनरेश बौद्ध धर्मानुयायी होने पर भी सहिष्णु थे, इसलिए ब्राह्मण प्रतिमाओं के निर्माण में प्रोत्साहन देते रहे। आठवीं सदी के बाद हिन्दू देवी-देवताओं की असंख्य मूर्त्तियाँ बनती रहीं। पश्चिमी भारत के इलौरा तथा एलेफेन्टा की गुफाओं में विशाल शैव प्रतिमायें वर्तमान हैं जहाँ शिव के विभिन्न स्वरूप का प्रदर्शन मिलता है। गंगाधर शिव, भैरव, कल्याण सुन्दर मूर्त्ति तथा नटराज प्रधान हैं। खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मन्दिरों पर अश्लील मूर्तियाँ खुदी हैं जिनकी कला इतिहास में विशेष स्थान रखती है। मध्ययुग की विशेषता यह है कि अधिकतर प्रतिमायें खड़ी बनती रहीं। दोहरे कमल का आसन सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। भगवान के अवतारों की सुन्दर मूर्त्तियां मिलती हैं। पौराणिक देवताओं में अलौकिक भाव प्रदर्शित करने के लिए, मनुष्य के शरीर से भिन्न तथा लोगों के रक्षक होने की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए सभी

देव तथा देवी प्रतिमाओं को बहुभुजी तथा अनेक मुख के साथ कलाकारों ने तैयार किया था। शाक्तमत के प्रचार से सभी देवता अपनी शक्ति (स्त्री) के साथ प्रकट होते हैं। मध्ययुग (१२वी सदी) के अन्तिम समय से मूर्त्तियाँ मन्दिरों के वास्तुकला में आभूषण के लिये प्रयुक्त की जाने लगीं जिस कारण उनका व्यक्तित्व चला गया। नेपाल में मूर्त्तिकला का आरम्भ पाल-मूर्त्तियों के अनुकरण से हुआ। उत्तर भारत में मुसलमानों के आक्रमण के कारण आठवीं सदी के बाद कई महापुरुषों का जन्म दक्षिण भारत में हुआ तथा प्रसिद्ध राजा व महात्मा वहीं पैदा हुए। शंकर तथा रामानुज ने शैव तथा वैष्णव मतों को पुष्ट किया। अतएव ग्यारहवीं सदी में चोल-नरेशों के राज्य में कला के नमूने विशेष मिलते हैं। शिव और विष्णु की अत्यन्त सुन्दर धातु की मूर्त्तियाँ बनने लगी थीं। यों तो गुप्तकाल में भी धातु-मूर्त्तियाँ बनती रहीं और कुर्कीहार तथा नालंदा से उच्च कोटि की कांस्य मूर्त्तियाँ मिली हैं जो पाल-युग में ढाली गयी थीं, परन्तु दक्षिण के चोल राजाओं के शासनकाल मे सर्वोत्तम ढंग से बनी धातु-प्रतिमाओं के नमूने मिले हैं। १०वीं सदी के बाद कलाकार मोम के बने सांचे का प्रयोग करते थे जिनमें गली धातु से मूर्तियां ढाली जाती रहीं। इस प्रकार दक्षिण भारतीय कांस्य प्रतिमाओं के तैयार करने का विशेष प्रकार था। नटराज संसार की सर्वप्रसिद्ध धातु-मूर्ति माना गया है जो चोलकालीन अद्वितीय प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त विष्णु, कृष्ण, राम तथा धार्मिक सन्तों की मूर्त्तियां कांस्य की बनी मिली हैं। मध्ययुगी कला ने भारत के बाहर भी अपना प्रभाव जमाया और जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में हिन्दूमूर्त्तियाँ तैयार होती रहीं। भारतीय कला में बौद्ध मूर्त्ति प्रज्ञापारमिता के ढंग पर शक्ति का समावेश किया गया। दर्शन-शास्त्र में पुरुष प्रकृति (ईश्वर व शक्ति) या मनुष्य व स्त्री का भेद तो वर्तमान था, परन्तु ईस्वी सदी के बाद इस भाव को कला में दिखलाया गया। दोनों में परस्पर मेल है। एक के साथ-साथ दूसरा सदा सम्बन्धित है।

ईश्वर से पृथक् शक्ति तथा शक्ति के बिना ईश्वर कुछ काम नहीं कर सकता। इसी भाव को कलाकारों ने प्रस्तरों में दिखलाया। पाल-वंश के समय में उमा-महेश्वर की मूर्त्तियां मिलती हैं। लक्ष्मीनारायण तथा अर्द्धनारीश्वर उसीके नमूने हैं। नेपाल में तारा की मूर्त्ति उस भाव को बतलाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय कलाकार पुण्यलाभ व धार्मिक सद्भावना को सामने रखकर मूर्त्ति तैयार करते रहे, केवल सौन्दर्य-प्रदर्शन उसका ध्येय न था।

चित्र-कला

भारतीय चित्रकला यहां के अपूर्व बुद्धिवाले चित्रकारों के धार्मिक तथा भावमय विचारों को विस्तृत रूप से व्यक्त करती है। चित्रकला का वास्तविक इतिहास अजन्ता से प्रारम्भ होता है जिसमें भारतीय सांस्कृतिक विषयों का सुन्दर प्रदर्शन पाया जाता है, परन्तु सब से प्राचीन चित्र भाजा, मिर्जापुर तथा राजगढ़ की गुफाओं में मिलते हैं। चित्रकार गुफा की भीतरी दीवार पर दो प्रकार से चित्र तैयार करते थे। पहले प्रकार का कार्य अनुकरण था। किसी चित्र को सामने रखकर उसका दूसरा चित्र (नकल) बनाते अथवा उसके भाव को समझकर कल्पना से उसको चित्रित करते थे। उस समय के चित्रों का उद्देश्य था दोषों को छिपाकर गुणों का उत्पादन करना। रमणीय रूप देकर आनन्द प्रदान करना मुख्य ध्येय समझा जाता था। कभी-कभी प्रिय का चित्र तथा शिक्षाप्रद बातें भी चित्र में दिखलायी जाती थीं। विष्णु-धर्मोत्तर आदि पुराण तथा साहित्य के ग्रंथों में ऐसे सिद्धान्त की बातें भरी पड़ी हैं। चित्रकार उपकरण, रंग, रीति आदि से पूर्णतया परिचित रहता था। वात्स्यायन ने तो चित्रकला को नागरिक के ज्ञान का आवश्यक विषय बतलाया है। कालिदास ने शकुन्तला में चित्रकला को विनोद की वस्तु माना है। अन्य ग्रंथों में राजकीय चित्रशाला, सार्वजनिक कलागृह तथा व्यक्तिगत चित्रगृह का वर्णन मिलता है। इससे प्रकट

होता है कि इस विषय का प्रचार सर्वत्र था। प्राचीन समय में भित्ति-चित्र (फ्रेस्को पेन्टिङ्ग) का अधिक प्रचार था, जिसके उदाहरण अजन्ता तथा बाघ की चित्रकारी में पाये जाते हैं। चित्र खींचने का एक विशेष प्रकार था। मिट्टी, भूसे, जूट, गोबर आदि को मिला कर एक लेप तैयार किया जाता था। चित्रभूमि पर इस लेप के सूख जाने के बाद चित्रण का कार्य प्रारम्भ किया जाता था। भरत ने नाटयशास्त्र में इस प्रकार के लेप का वर्णन किया है। फलक या केनवास पर भी चित्र खींचे जाते थे। किसी-किसी प्राचीन ताड़-पत्र की हस्तलिखित पुस्तकों में भी चित्र पाए जाते हैं। सभी आधार पर चित्र एक ही प्रकार से खींचा जाता, रेखा खीचकर रङ्ग भरा जाता। प्रधानतया लाल, पीला, नीला तथा श्वेत—चार रङ्गों को चित्र-निर्माण में व्यवहार करते थे। संस्कृत के शिल्प-ग्रंथों में खींची जानेवाली वस्तु की अवस्था (पोज) का भी वर्णन पाया जाता है। भारत में अत्यन्त पुरानी गुफाओं मे चित्र मिले हैं, परन्तु ईसा की चौथी सदी से, गुप्त राजाओं के समय से, इसकी विशेष उन्नति हुई। कालिदास के ग्रंथों में सभी बातों का वर्णन विशद रूप से पाया जाता है। अजन्ता की चित्रकारी संसारप्रसिद्ध है। पहाड़ी चट्टानों को काटकर अजन्ता की गुफाएँ बनाई गयीं। इनकी दीवारों पर एक प्रकार का प्लास्टर लगाकर और सफेदी कर के सुन्दर चित्र बनाए गए हैं। यहां की गुफाओं में चित्र समय-समय पर बनते रहे। भगवान बुद्ध की कथाओं का चित्रण ही अजन्ता की गुफाओं में किया गया है। इसके अतिरिक्त राजसभा व जुलूस आदि का चित्रण भी सुन्दर ढंग से पाया जाता है। इनके देखने से उस समय की वेश-भूषा, रहन-सहन का पता लगता है। चित्रों में जीवन के प्रति आनन्द की भावना है। बुद्ध को भिक्षा देनेवाले माता-पुत्र का चित्र अजन्ता में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। संसार में इसके समान सुन्दर भावमय चित्रकारी अन्यत्र नहीं पायी जाती। राजकीय जुलूस का भी नाम उल्लेखनीय है। भारत में अजन्ता की सर्वश्रेष्ठ कला को

देखने संसार से यात्री आते हैं। सभी इस चित्रकारों की सौन्दर्य-भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं जहां कुरूपता का नाम नहीं। औचित्य का ध्यान सर्वत्र रक्खा गया है। छठीं सदी की चित्रकारी का उदाहरण मध्य भारत में बाघ की गुफाओं में मिलता है। अजन्ता के लेप से यहाँ की भूमि में अन्तर है। 'रंग-महल' नाम की गुफा अद्‌भुत चित्रकारी का गृह है। स्त्री-गायिकाओं का दृश्य भी अत्यन्त मनमोहक है। इसमें वाद्य और संगीत का प्राचीन ढंग पाया जाता है। अजन्ता से बाघ की चित्रकला घट कर है। पर भावप्रधान चित्र स्वर्गीय आनन्द देनेवाले है। यहां पर मानवजीवन से सम्बन्ध रखने वाले चित्र पाए जाते हैं। धार्मिकता गौण रूप में है। हैवेल आदि विद्वानों ने चित्रों की अत्यन्त मार्मिक प्रशंसा की है। गुफाओं के भित्ति-चित्र का प्रभाव भारत से बाहरी देशों पर भी पड़ा था। अजन्ता-शैली के चित्र लदाख तथा मध्य एशिया की गुफाओं में मिले हैं। उन भित्ति-चित्रों में लेप न लगाकर गुफा की दीवाल पर सफेदी पर ही चित्र तैयार किये जाते थे। मध्य एशिया में भित्ति-चित्र (मुराल) बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विषयों को प्रदर्शित करते हैं। बुद्ध के हजारों चित्र तुयेनहुआंग के पास सहस्र बुद्ध गुफा में पाये गये हैं। वहां कनवास तथा रेशमी वस्त्र पर भी सुन्दर चित्र बनते रहे। भित्ति-चित्रों के पश्चात् (यानी अजन्ता-शैली के बाद) हस्तलिखित ग्रंथों को चित्रित करने का कार्य भारतीय कलाकारों ने उठाया था। उस समय ताड़पत्र पर ग्रंथ लिखे गये थे। उन ताड़पत्रों के मध्य में थोड़ी-सी जगह में चित्रकारों ने तेज रंग से तत्सम्बन्धी अथवा धार्मिक चित्रों को चित्रित करने का प्रयास किया था। उन रंगों के द्वारा जो चित्र तैयार किये गये थे, वह छोटे तो अवश्य थे, पर गहरे रंग के थे। पश्चिमी भारत में सर्वप्रथम ऐसी चित्रकारी आरम्भ की गयी थी, इस कारण इसे पश्चिमी भारतीय शैली या जैन स्कूल के नाम से पुकारते हैं। दीवाल पर बड़े चित्र सूक्ष्म रूप में लाये गये थे। इनके उदाहरण गुजरात तथा पाल-युग की चित्रकला में पाये

जाते हैं। पाल-शैली में बौद्ध देवी-देवताओं के चित्र बनते रहे। प्रज्ञा पारमिता के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

१०वीं से १२वीं सदी तक बंगाल तथा ११वीं से १६वीं सदी तक गुजरात में इस सूक्ष्म रूप में चित्र बनते रहे। ताड़पत्र पर लिखे हस्तलिखित ग्रंथों के स्थान पर कागज भी आ गया और उसपर भी सूक्ष्म चित्र खींचे जाने लगे थे। इनमें लम्बी आंखें, नुकीली नाक तथा बड़े नेत्रों की विशेषता है। ग्रंथों में कल्पसूत्र (जैन), भागवत (वैष्णव) तथा वसन्तविलास (लौकिक विषय) के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी गुजराती चित्रकला के नमूने एलौरा की गुफा में भी वर्तमान हैं। वही धीरे-धीरे मालवा तथा पश्चिमी राजपुताना में प्रचलित हो गया जो आगे चल कर राजपूत-शैली के नाम से विख्यात हुआ। इसमें मनुष्य के भावमय विचारों को सर्वोत्तम ढंग से प्रदर्शित किया गया था। संगीत-सम्बन्धी रागमाला चित्र राजपूत-शैली के सब से सुन्दर नमूने हैं।

संगीत

ललित-कला का एक मुख्य अंग संगीत भी है। संगीत वह माया है जिसमें पड़ कर मनुष्य क्या, पशु भी प्राण दे देते हैं। भर्तृहरि ने साफ तौर से कहा है कि—साहित्यसंगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः—संगीत बिना मनुष्य पशु के समान है। कला का प्रधान अंग होने के कारण संगीत को बहुत महत्त्व दिया जाता है। यह आनन्ददायक तथा आध्यात्मिक विकास में सहायक भी है, अतएव गीता में कृष्ण भगवान ने बतलाया है कि 'मैं सामवेद हूँ। संगीत-शास्त्र सामवेद का उपवेद है। साम का गायन बड़ा ही मधुर, मनोहर तथा चित्ताकर्षक होता है। संगीत की उत्पत्ति इन्हीं साम-गायनों से हुई है। दार्शनिक लोगों का विचार है कि ओऽम् (प्रणव) से विभिन्न राग निकले। संगीत के सात स्वर भी प्रणव से ही निकले। भारतवर्ष में इसका प्रचार अत्यन्त प्राचीन समय

से आ रहा है। महर्षि वाल्मीकि ने लव-कुश को जंगल में संगीत की शिक्षा दी। नारदजी संगीत के आचार्य थे। संगीत के तीन भिन्न अंगों—गान, वाद्य तथा नृत्य—का वर्णन भारतीय शिल्प-ग्रंथों या संगीत-साहित्य में पाया जाता है। भरत के नाटचशास्त्र में सब अंगों का वर्णन है। नाटचशास्त्र ही संगीत-शास्त्र का प्रथम ग्रंथ है। जितने संगीत-विषयक ग्रंथ आज तक उपलब्ध हैं, यह उन सबमें प्राचीनतम है। समग्र संगीतशास्त्र नाद के अधीन है। नाद दो प्रकार का होता है—आहत तथा अनाहत। जो नाद आघात के बिना उत्पन्न होता है, उसे अनाहत नाद कहते हैं। वीणा और मृदंग आदि पर हाथ मारने से तथा कण्ठ से जो नाद उत्पन्न होता है, वह आहत नाद कहलाता है। संगीतरत्नाकर भी इसी विषय का एक प्रधान ग्रंथ है। शास्त्र में दो प्रकार से संगीत की अभिव्यक्ति की जाती है—पहला, देशी ढंग जो सर्वसाधारण के प्रयोग मे आता है; दूसरे, मार्गी तरीका का केन्द्र दक्षिण भारत था जिसमें द्राविड़ी, आन्ध्री तथा करनाटकी राग प्रयुक्त किया जाता है। इसी विद्या को ऋषियों ने गन्धर्व तथा अप्सराओं को सिखलाया। प्राचीन समय में संगीत सर्वसाधारण की विद्या थी। वात्स्यायन ने भी संगीतशास्त्र पर प्रकाश डाला है। नागरिक इसका ज्ञान रखते थे। राज-दरबार में गानेवालों का समुचित आदर किया जाता था। बालक, बालिकाएँ तथा स्त्रियाँ संगीत की शिक्षा ग्रहण करती थीं। कालिदास के ग्रंथ तथा मृच्छ-कटिक में इस कला का वर्णन सर्वत्र पाया जाता है। ईसा की छठीं सदी तक (गुप्त-युग में) संगीत की अच्छी उन्नति हुई। साहित्यिक वर्णन के अतिरिक्त चित्र तथा मूर्त्तिकला में इसे स्थान मिल गया था। बाघ की गुफा में नृत्य करनेवाली दो मण्डलियों का चित्र पाया जाता है। मृदङ्ग, झाल व वीणा आदि का चित्र खींचा गया है। सिक्के पर गुप्त राजा समुद्रगुप्त वीणा बजाते अंकित है। भूमरा मन्दिर में शिव के गण भेरी, झाल आदि बजाते दिखलाए गए हैं। दक्षिण में ताण्डव नृत्य करते शिव की धातु-प्रतिमा

मिलती है। इस प्रकार यह विदित होता है कि साधारण व्यक्ति से लेकर राजसभा तक संगीत का आदर था और लोग जानते थे। नवीं सदी में रचित नारद का 'संगीत मकरन्द' कला का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। तामिल वेद मार्गी ढंग का अनूठा ग्रंथ है। मध्ययुग में विजय-नगर में दस टाट की उत्पत्ति हुई। वैष्णव तथा शैव धर्म की वृद्धि से मन्दिर गाने तथा नृत्य के घर हो गये। दक्षिण के नाथ मुनि ने इसका खूब प्रचार किया। श्रीयामुनाचार्य का भी नाम लेने योग्य है। तीर्थों में इसका प्रचार बढ़ने लगा। साधुओं ने इसके प्रचार में हाथ बँटाया। मठ की भी बारी आयी। गाने-बजाने की जगहें स्थापित हो गयीं। उत्सव पर नृत्य भी होने लगे। धीरे-धीरे राज-दरबार संगीत का केन्द्र हो गया। इसी तरह से भारत में इसका प्रचार बढ़ता गया। हरिकीर्तन के साथ नृत्य पर भी जोर पड़ा। शिव के ताण्डव नृत्य तथा महाविष्णु के नृत्य को आदर्श मान कर सबने नृत्य को अपनाया। ऋग्वेद में नृत्य का उल्लेख पाया जाता है। रामायण तथा महाभारत में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अतः प्राचीन काल में नृत्य के प्रचार का अनुमान उपर्युक्त साहित्य उल्लेखों से ही किया जाता है। संगीत के साथ नाटक (अभिनय) का भी प्रचार होता रहा, क्योंकि नाटक में उसी बात को ठीक प्रकार से रखना ही पर्याप्त न था; परन्तु गान, वाद्य तथा नृत्य भी सम्बन्धित थे। भारतीय नाटक सर्वाङ्ग सुन्दर होते थे। नाटक किसी विशेष घटना या उत्सव पर दिखलाए जाते हैं। यही कारण है कि ललित-कला में संगीत के साथ अभिनय का भी नाम लिया जाता है।

भारतीय उपनिवेशों की संस्कृति

प्राचीन भारत के अधिवासी बड़े ही उत्साही तथा परिश्रमी थे। वे कला-कौशल, सांसारिक सुख तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के ऊँचे शिखर पर पहुँच कर भी सन्तुष्ट नहीं हुए, परन्तु उन लोगों ने भारत के समीप के और एशिया के दूर के प्रान्तों में जाकर उपनिवेश बनाया और संस्कृति फैलाई, वहाँ पर आर्य-धर्म और उन्नत साहित्य का प्रचार किया। उन देशों के प्राचीन इतिहास तथा प्राप्त लेखों के अध्ययन से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। उनके रीति-रिवाज बतलाते हैं कि उस देश पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप पड़ी थी। भारतीय सभ्यता के चिह्न मध्य एशिया, तुर्किस्तान, और एशिया के दक्षिणी पूर्वी भाग मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली, चम्पा, कम्बोडिया तथा थाईलैंड (स्याम) में अधिकता से मिलते हैं।

भारत के प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि ईसा पूर्व सदियों से ही भारतीयों को समीप के द्वीपों का ज्ञान था। रामायण तथा पुराण में यव द्वीप तथा सुवर्ण द्वीप का उल्लेख मिलता है। इनकी समता वर्तमान जावा-सुमात्रा से की जाती है। रामायण में जावा के सात छोटे राज्यों का वर्णन मिलता है—'यवद्वीपं सप्त-राज्योपशोभितम्'। यदि उन द्वीपों के निवासियों के नामों पर ध्यान दिया जाय, तो सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं और भारत का प्रभाव वहाँ ज्ञात होता है। बाली द्वीप के रहनेवाले कलिंग और पांडिय नाम से पुकारे जाते थे। वह नाम संकेत करता है कि भारत के विभिन्न प्रान्तों से वहाँ जाकर लोग बस गए थे। डा० कुमार स्वामी का मत है कि जावा के निवासी दक्षिण भारत से गए थे।

भारत के उपनिवेश तथा सभ्यता के प्रसार के दो मुख्य कारण

थे। पहला कारण यह था कि यहां के राजाओं ने धर्मविजयी भावना को लेकर वृहत्तर भारत में अपने दूत भेजे। उनके दूतों ने आर्य-धर्म का विस्तार किया और उनको अधीनस्थ शासक बनाया। अशोक मौर्य ने बौद्ध धर्म के फैलाने के लिए एशिया और योरप के विभिन्न देशों में धर्म-प्रचारक भेजे। गुप्तकाल में सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी विजययात्रा में द्वीपों के शासकों से कर ग्रहण किया। उन लोगों ने बहुत-सा द्रव्य भेंट में दिया और राजाज्ञा पालन करने के लिए उद्यत हो गए। दूसरा कारण यह था कि भारतीय अपने व्यापार को सर्वत्र फैलाना चाहते थे; अतएव वे द्वीपों में भी गए और आर्थिक समस्या के साथ-साथ उन्होंने यहां के रीति-रस्म को भी वहां प्रचलित किया। व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने पर लोगों में विचार-विनिमय होने लगा। यही भावना बढ़ते-बढ़ते संस्कृति के आदान-प्रदान में परिवर्तित हो गयी। बौद्ध जातक-ग्रंथों में भारत और द्वीपसमूहों के व्यापार का वर्णन मिलता है। जलमार्ग इन द्वीपों से होकर चीन तक जाया करता था। वहां से भारतीय सामान के बदले में रेशम आया करता था जिसका वर्णन महाकवि कालिदास के ग्रंथों (कुमारसंभव, शकुंतला) में पाया जाता है—'चीनां शुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।' व्यापार के साथ भारतीयों ने द्वीपों को अपना उपनिवेश बना लिया, जिसका समर्थन टालेमी ने किया है। ईसा की तीसरी सदी में उत्तरी भारत में चम्पा में एक राजा आया था। प्रायः इसी समय से द्वीपों में भारतवासी रहने लगे और उपनिवेश का प्रारम्भ हुआ। चम्पा के लेखों में भारतीय उपनिवेश का उल्लेख पाया जाता है। जावा के इतिहास से पता चलता है कि वहां छठीं सदी में गुजरात से एक राजकुमार पांच हजार आदमियों के साथ गया और बस गया। इसी प्रकार भारतीयों ने जावा, चम्पा, कम्बोडिया आदि देशों में पहली सदी से उपनिवेश बना लिया था, जहां दो सौ वर्षों के बाद एक हिन्दू राज्य स्थापित हो गया।

भारतीय उपनिवेश का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि वहां के शासक तथा नगरों के नाम भारतीय ढंग पर रक्खे गये थे। राजाओं के नाम के साथ 'वर्मा' तथा नगरों के साथ 'पुर' शब्द जुड़े हैं। पांचवीं सदी में सुमात्रा, चम्पा और कम्बोडिया आदि के राजा भद्र वर्मा, महेन्द्र वर्मा आदि के नाम से विख्यात थे। थाईलैण्ड (स्याम) के राजाओं ने अपना नाम राम और राजधानी का नाम अयोध्या रक्खा। इस प्रकार जयादित्यपुर, श्रेष्ठपुर आदि नाम मिलते हैं।

भारतीय लोगों ने उन द्वीपों में अपना उपनिवेश ही नहीं बनाया, वरन् भारतीय रीति और साहित्य का भी प्रचार किया। देववाणी संस्कृत का पठन-पाठन वहां प्रारम्भ हो गया। देवपूजा, दान व कीर्तन आदि धार्मिक कार्य संस्कृत में होने लगे। पांचवी सदी के आसपास कम्बोडिया, चम्पा, जावा तथा बाली द्वीपों में जितने लेख मिले हैं, वे सब संस्कृत में लिखे हुए हैं। लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य (काव्य, नाटक, दर्शन) तथा वेदविषयक बातों का वर्णन भारतीय ढंग पर कराया जाता था। चम्पा का शासक भद्र वर्मा चारों वेद, षड्दर्शन, बौद्ध साहित्य, व्याकरण तथा कल्प आदि शास्त्रों का प्रकाण्ड विद्वान् था। डाक्टर मजुमदार ने अपनी पुस्तक में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेद, दर्शन, बौद्ध दर्शन, व्याकरण, स्मृति, पुराण, रामायण तथा महाभारत का पठन-पाठन द्वीपों की जनता भारतीय ढंग से करती थी। वहां के पूजागृहों में रामायण तथा महाभारत-सम्बन्धी चित्र खिचे मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि वहां पर भारत के धार्मिक ग्रंथों का प्रचार था।

उपनिवेशों में भारतीयों के निवास करने के कारण वहां के रहने-वालों ने भारतीय सामाजिक नियम तथा रीति-रिवाज का अनुकरण किया। चम्पा के लेखों से मालूम पड़ता है कि वहां समाज को चार वर्णों में बांटा गया था। वे चारों अपना-अपना कार्य करते थे और परस्पर प्रेममय सम्बन्ध रखते थे। ब्राह्मण-क्षत्रिय में विवाह

होने के कारण ब्रह्म-क्षत्रिय नामक जाति पैदा हो गयी थी। भारत के ऐसे वस्त्र और आभूषण वहां के आदि-निवासी पहनने लगे। चम्पा-निवासी व्यापार में बड़े निपुण थे और उनका मार्ग जावा-सुमात्रा तक विस्तृत था। भारतीय शैली पर वे लोग मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के सामान एकत्र करते थे। गाना, बजाना, नाचना तथा नाटकों के देखने से उनमें भारतीयपन टपकता है। उनकी रहन-सहन और धार्मिक कृत्य सभी भारतीय थे। यज्ञ करने की प्रथा तो यहीं से वहां गयी। वहां के समाज में वही बातें महत्ता रखती थीं, जो भारतीय समझी जाती थी।

उपनिवेशों की शासन-प्रणाली आदर्श तरीके की थी। राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारत-नरेशों के सदृश वहां का शासकसब प्रबन्ध करता था तथा राजकर्मचारी प्रत्येक कार्य में उसकी सहायता किया करते थे। राजा जिस धर्म को मानता था, उसीको प्रजा अपनाती थी। सभ्यता के साथ-साथ भारतीय धर्म का वहां प्रसार हुआ। वहां के निवासियों ने इसका स्वागत किया। इसलिए शैव तथा वैष्णव-मतों का समुचित विकास उपनिवेशों में पाया जाता है। डा० कृष्ण स्वामी के मतानुसार वैष्णव, शैव तथा बौद्ध धर्मो का प्रचार क्रमशः हुआ। द्वीपों के पांचवीं सदी के लेखों मे वैष्णव मत का वर्णन मिलता है। चम्पा के राजाओं ने विष्णु-मन्दिर तैयार कराया जिसमें शेषशायी या गरुड़वाही भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी थी। सातवीं सदी का एक लेख मलाया में मिला है जिसमें विष्णु-मन्दिर का उल्लेख मिलता है। चम्पा के राजा प्रकाशधर्म ने शिव की ताण्डव मूर्ति की स्थापना कराई थी। भदेश्वर नाथ शिव-लिंग की मूर्त्ति प्रतिष्ठित की गयी। शायद गुप्त-काल में उपनिवेशों में विस्तार के कारण भागवत धर्म वहां पहुँच गया। इस तरह भारत का सम्बन्ध उपनिवेशों से घनिष्ठ होता गया। ब्राह्मण धर्मो के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार उपनिवेशों में हुआ। तिब्बती ऐतिहासिक तारा-नाथ ने लिखा है कि वसुबन्धु के शिष्यों ने इण्डोचीन में महायान मत

का प्रसार किया था, जहां पर प्रारम्भ में हीनयान का प्रचार था। सातवीं सदी के यात्री इत्सिंग ने सुमात्रा में बौद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन किया है। वहां भिक्षुगण भारतीय ढग से रहते तथा विद्या का अध्ययन करते थे। जावा में एक विशाल मन्दिर, बारोबुदुर, की स्थिति मिलती है। उसके चित्रों से ज्ञात होता है कि द्वीपों में बौद्धधर्म को प्रधान स्थान प्राप्त था। जावा से भी लोग विद्या पढ़ने भारतवर्ष में आया करते थे। वहां के राजा बलपुत्रदेव ने नालंदा महाविहार में एक स्थान बनवाया था। उसने अपने मित्र पाल नरेश देवपाल से उस स्थान के रक्षार्थ पांच गांव दान में दिलवाये थे और उसकी कमी दूसरे प्रकार से पूरी कर दी थी। उपनिवेशों में भारतीयों से प्रभावित होकर या अन्तर्राष्ट्रीय यशप्राप्ति के लिए जावा के राजा ने ऐसा किया होगा।

उपनिवेशों में ऊपरी बातों पर विचार के बाद यदि कला पर ध्यान दिया जाय, तो साफ तौर से मालूम पड़ता है कि भारतीय शैली का वहां गहरा प्रभाव था। चम्पा तथा कम्बोडिया में गुप्त-कला का अनुकरण कर मन्दिर तैयार किए गए। उनकी बनावट पर भारत की छाप है। ये मन्दिर आर्य नागर शैली के शिखरयुक्त निर्मित किए गए थे। मंदिरों की खुदाई गुप्त-तक्षण-कला से मिलती-जुलती है। उनकी चौखटों में अनन्तशायी विष्णु व मकर की मूर्त्तियां बनी हैं। भारतीय ढंग के उष्णीष तथा वस्त्रधारी मूर्त्तियां मिलती हैं। कम्बोडिया और चम्पा में ऐसे अनेक मन्दिर पाए जाते हैं। वहां भारतीय कला स्वयं उत्पन्न नहीं हुई, पर भारत से ली गयी। जावा तथा सुमात्रा की कला में भी भारतीयपन है। जावा के मन्दिर चालुक्य तथा पल्लव-शैली पर तैयार मिलते हैं। उड़ीसा के भुवनेश्वर मन्दिर की तरह जावा के मन्दिरों में शिखर व आमलक का प्रयोग किया गया है। राम-कृष्ण-सम्बन्धी चित्र वहां की मिट्टी की चीजों पर मिलते हैं। लोगों का ख्याल है कि बंगाल से होकर पाल-कालीन कला का विस्तार उपनिवेशों में हुआ।

भारतीयता की छाप उपनिवेशों में सर्वत्र पायी जाती है। साहित्य के अतिरिक्त लिपि पर भी दक्षिण भारत का प्रभाव मालूम पड़ता है। संस्कृत का पहले बड़ा सम्मान था, अतएव सब लेख संस्कृत में पाए जाते हैं। भारत में ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार से उपनिवेश में भी संस्कृत का फैलाव हो गया। इस प्रकार भारत से सभी बात धीरे-धीरे उपनिवेशों में फैलती गयी। भारतीय संस्कृति के प्रसार अथवा भ्रमण की एक सुन्दर कहानी है जिसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। भारत से पूर्वी द्वीप-समूह समीप होने के कारण भारतीय सभ्यता का प्रधान केन्द्र बन गया। उन स्थानों में आवागमन जारी रहा तथा दूर के स्थान भी इस प्रभाव से बच न सके। चीन, जापान में भी धर्मप्रचारक गए जिनके साथ सभ्यता का श्रोत बहता गया। एशिया के पश्चिमी भाग—तिब्बत, अफगानिस्तान, मध्य एशिया भी इससे बचे न रहे। चूंकि भारत का प्राचीन व्यापार स्थल-मार्ग से योरप से होता रहा, अतएव वहां के निवासी भारतीय संस्कृति से पूर्ण रूप से परिचित थे। उत्तरी भाग द्वारा मध्य एशिया में जाने के दो मार्ग थे—एक लेह से तथा दूसरा गिलजित होकर। मार्ग में ऊंचे पर्वतश्रेणियों तथा दर्रों को पार कर खोतान पहुँच जाते थे जो पश्चिमी भूभाग का मुख्य नगर था। खोतान से तरीम कोटे के दक्षिणी भाग होकर मध्य एशिया के पूरब छोर तक रास्ता गया था जिससे होकर ह्वेन्सांग भारत आया था। इसी मार्ग में अनेक खण्डहर तथा भग्नावशेष मिले हैं जो प्रमाणित करते हैं कि भारतीय संस्कृति का मध्य एशिया में प्रचार था। चूंकि कनिष्क का राज्य काशी से लेकर पश्चिमी मध्य एशिया तक विस्तृत था, इस कारण दोनों देशों में आना-जाना हुआ तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हुए।

मध्य एशिया में भारतवासियों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था जिसके दो प्रबल प्रमाण मिले हैं। पहला बौद्ध चित्र जो अजन्ता की शैली पर मठों की दीवाल पर बने थे, दूसरे साहित्यिक ग्रंथ

जिनकी प्रतियां बालू मे दबी पायी गयी हैं। भित्ति-चित्रों का सर्वश्रेष्ठ नमूना खोतान, मीरान तथा तुमेन हुआंग में मिले हैं जिनपर भारतीयता की सच्ची छाप है। मठों से प्राप्त घरेलू सामग्री भी भारतीय ढंग की हैं। वहीं से सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का प्रचार चीन में हुआ था। चीन में कई भारतीय पंडित राजा के निमंत्रण पाकर गये और बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुमारजीव तथा श्री दीपंकर श्री ज्ञान के नाम उल्लेखनीय हैं। तिब्बत में भी ७वीं सदी के बाद उन स्थानों से बौद्ध धर्म फैला। गम्पो की रानियों ने बुद्ध धर्म का प्रचार किया था जो तारा देवी की तरह तिब्बत में पूजित होती हैं। तिब्बत में भारतीय विद्वानों का तांता लगा रहा। इस प्रकार मध्य एशिया, चीन तथा तिब्बत में भारतीय संस्कृति फैली। भारतवासियों के उपनिवेश बालू की पर्तों के नीचे दबे मिले है। सर आरेलस्तीन ने उन खण्डहरों अथवा दबे स्थानों की खुदाई कर प्रशंसनीय कार्य किया है। उससे पता लगा है कि भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्रसार उपरले हिन्द मे भली भांति हो गया था। मिशनरी भाव को लेकर यहां से लोग गए और उनके सामने अपनी बातों को सुनाया। अन्त में नियमतः अच्छी बातों पर सबका ध्यान गया और असंस्कृत बातों को छोड़ कर सबों ने भारतीयपन को अपनाया। यही कारण है कि एशिया का कोई भाग भारत के प्रभाव से बचा न रहा। उन देशों के प्राचीन इतिहास, प्राप्त लेख तथा खण्डहर इस बात के समर्थक हैं कि पुराने समय में पश्चिमी या पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति ने अपना घर बना लिया था। भारत देवलोक समझा जाता था। कौन-सा ऐसा भूभाग था, जहां से मार्ग की सुगमता होने पर यात्री भारत न आए हों। यात्रियों का भ्रमण-वृत्तांत कही हुई बातों की पुष्टि करता है। इसका वर्णन अगले अध्याय में मिलेगा। यही नहीं, अफ्रिका के समीप मैडागास्कर द्वीप में भारतीय सिक्के मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है कि भारत से लोग वहां गए थे। मेक्सिको (उत्तरी अमेरिका) की खुदाई में हिन्दू-

भा० १२

मूर्त्तियां मिली हैं। इन्हें देखकर सबको आश्चर्य होता है कि सुदूर देश में कैसे हिन्दू मन्दिर बने। इसका उत्तर यही हो सकता है कि हिन्दू संस्कृति का वहां विस्तार था।

इस प्रकार एशिया, बेबिलोनिया तथा मिस्र देश की सभ्यता से तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि भारत की सभ्यता ईसा पूर्व पांच हजार वर्ष पहले से चली आ रही है। दुनिया के सभ्य देशों में इसकी गणना होती है।

भारत का महत्व

भारतवर्ष का महत्व जितना कहा जाय, सब थोड़ा होगा। पिछले अध्यायों में जितनी बातों पर प्रकाश डाला गया है, उन्हीं के बारे में अधिक बातें कही जा सकती है, पर स्थानाभाव के कारण संक्षेप विवरण से ही सन्तोष करना पड़ता है। यहां पर विदेशी यात्रियों द्वारा कथित भारतीय गौरव-विषयक वर्णन का दिग्दर्शन कराया जायगा। भारत सदा से सभी देशों का सिरमौर रहा है। इसे देखने के लिए सदा लोग तरसा करते थे। विदेश से यात्री-गण किसी-न-किसी प्रकार सदा आते रहे। पहले कहा जा चुका है कि ईसा पूर्व शताब्दियों में बौद्ध धर्म का प्रसार था, अतएव भारत से धर्मप्रचारक अन्य देशों मे भेजे गये। भारतीय व्यापार के कारण भी लोगों को यहां की बातें ज्ञात हो गयी थीं। सर्वप्रथम सिकन्दर महान् का आक्रमण भारत पर हुआ, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व था। यों तो ईरान के राजा चढ़ाई करते रहे, परन्तु यूनानी सिकन्दर का ही प्रभाव रह गया। उसके साथ तथा बाद में यूनानी यात्री आये जिन्होंने भारत का वर्णन किया है। मेगस्थनीज पुराना यात्री माना जाता है। उसके पूर्व हेरोडोटस नामक यूनानी इतिहासज्ञ भारत में आया था। उसका वर्णन कही हुई बातों पर अवलम्बित होने के कारण अनुभव तथा सचाई से दूर है। जो कुछ भी हो, हेरोडोटस का विवरण काफी रोचक तथा विस्तृत है। मेगस्थनीज ने 'इंडिका' नाम की पुस्तक लिखी जो आजकल उपलब्ध नहीं है। उसकी कही हुई बातें यत्र-तत्र उस देश के लेखकों ने उल्लिखित की हैं। वह सीरिया दरबार का राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र की राजसभा में भेजा गया था। वह राजधानी में रहा तथा राज-सभा में बैठता था। वह लोगों के

सम्पर्क में आया, अतएव उसके कथन का आधार अपना अनुभव और देखी हुई बात है। स्ट्रेबो, प्लीनि तथा एरियन के लेखों से मेगस्थनीज के भारतीय वर्णन का पता चलता है। उन तीनों यात्रियों ने भारतवर्ष का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है।

समाज में राजा तथा प्रजा का पृथक्-पृथक् स्थान था। दोनों स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते थे। सामाजिक कार्य में राजा हस्तक्षेप नहीं करता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में राजाओं ने शासन किया तथा वे नष्ट भी हो गए, परन्तु समाज में कोई परिवर्तन न हुआ। युद्ध के समय भी शान्तिमय वातावरण रहा करता था। समाज वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार चार वर्णों में विभक्त किया गया था। परन्तु मेगस्थनीज ने वर्ण के कार्यानुसार सात जातियों का वर्णन किया है। ब्राह्मण अधिकतर दार्शनिक हुआ करते थे तथा भविष्यवाणी करते थे। यदि तीन बार उनके कथन असत्य हो जाते, तो जीवन भर वे चुप रहते। दार्शनिक लोग राजकीय कर से मुक्त कर दिए गये थे। इस कथन की पुष्टि अशोक के लेख तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से की जाती है जिसमें श्रमण (यति-ब्राह्मण) को लगान से रहित भूमि दान दी जाती थी। दूसरी जाति गृहस्थ की थी जो खेती और व्यापार आदि किया करती थी। सम्भवतः मनु-कथित वैश्य जाति इससे मिलती-जुलती थी। शिकार करनेवाले तीसरी जाति में रक्खे गए थे। एरियन ने भड़ेरिये से उनकी समता की है। शूद्र चौथे प्रकार की जाति के थे। अन्य यूनानी लेखकों ने उस जाति को कारीगर के नाम से उल्लिखित किया है। उन सबका काम शारीरिक परिश्रम तथा सेवा करना था। योद्धाओं की गिनती एक पृथक् जाति के नाम से की गयी थी। सच्चे क्षत्रिय इसमें सम्मिलित किये गए थे। जो लोग राजा के लिए भेदिया का काम किया करते थे, उन्हें छठी जाति में रक्खा गया था। अन्तिम जाति (सातवी) दरबार के सभासदों तथा सलाहकारों की मानी जाती थी। इस प्रकार मेगस्थनीज ने समाज को सात भागों में विभाजित किया

था। शास्त्रीय विवाह तथा सती की प्रथा समाज में अच्छी प्रकार प्रचलित थी। भारत में लोग समय-समय पर त्यौहार मनाया करते थे। वर्ष में एक बार राजसभा में उत्सव मनाया जाता था। परन्तु सर्वसाधारण के लिए उसमें सम्मिलित होना अनिवार्य न था। अशोक के लेखों में भी ऐसे उत्सवों का वर्णन पाया जाता है। यूनानी लोगों के कथनानुसार समाज में मनुष्यों का वस्त्र तथा भोजन समय तथा पद के अनुसार परिवर्तित होता रहता था। भारतीय नर-नारी आभूषणप्रिय थे तथा कामदार वस्त्र पहनने में आनन्द मानते थे। फूल का सदा उपयोग किया जाता था। नौकर छत्र लिए स्वामी के पीछे चला करता था। स्ट्रेवो ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। भारतीय कला में आकृतियों को देखा जाय तो उसी प्रकार के वस्त्राभूषण दिखलाई पड़ते हैं। उनके कथनानुसार भारत में 'ऊँचे विचार तथा साधारण जीवन' (plain living and high thinking) ही सर्वत्र दिखलाई पड़ता था।

यूनानी लोगों ने भारत की आर्थिक अवस्था का भी वर्णन किया है। कारोबार में—जैसा उनका मत है—भारत के लोग कम निपुण न थे। सबसे प्रधान बात यह थी कि भारतवर्ष अपने में स्वतः सन्तुष्ट था। सब प्रकार की आवश्यक चीजें पैदा की जाती तथा प्रयोग में लायी जाती थीं। यद्यपि खेती का विस्तृत विवरण यूनानी इतिहासकारों ने नहीं किया है, तथापि आर्थिक जीवन में भारतीय परिश्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। जनता मे कुछ ऐसे लोग अवश्य थे जो धन लगाकर बड़े व्यापार को खड़ा करते और सिक्कों के प्रचलन से आवश्यक सामग्री खरीद लेते थे। रुपया उधार देने की प्रथा थी। ईसा पूर्व सदियों में भारत में धन का प्रयोग किया जाता था। पैदावार, प्रयोग, बँटवारा और धन का रद्दोबदल सदा हुआ करता था। खेती का वर्णन अच्छे ढंग से किया गया है। मेगस्थनीज ने भ्रम से लिख दिया कि जमीन राजा की थी और किसान पैदावार का एक चौथाई मालिक को दिया करता था। स्ट्रेवो

ने खेत में दो फसलों के विषय में अन्न के नाम तक उल्लेख किये हैं। जमीन की उपज अच्छी थी। सब लोगों ने लिखा है कि मिट्टी तो उर्वरा थी ही, परन्तु नदी के कारण पैदावार अधिक हुआ करती थी। यद्यपि अधिक जनता खेती में व्यस्त रहती; परन्तु कारोबार को लोगों ने भुला न दिया था। आवश्यक चीजें पैदा की जाती थीं। सोना, चांदी, लोहा आदि धातु खान से निकाली जाती थीं। सांसारिक बातों के विवरण पर यदि ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि यूनान के सारे यात्रियों तथा इतिहासज्ञों ने एक-सा वर्णन नहीं किया है। परन्तु धार्मिक तथा दार्शनिक मामलों में सब एक ही मत हैं। धर्म में अन्ध-विश्वास का नाम तक न था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत के वेदान्ती संसार में एकमात्र सत्य "ब्रह्म" को मानते थे। संसार माया है, उसे मृगतृष्णा कहा गया है। देवताओं के बारे में यूनानियों का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। उन लोगों ने हिन्दू, जैन तथा बौद्ध में अन्तर न पाया। एरियन आदि ने साधुओं का वर्णन किया है जिसमें कुछ हठयोग के उपासक थे। कर्मवाद तथा आवागमन के दार्शनिक सिद्धान्तों को लोग मानते थे। तीर्थयात्रा का महत्व समझा जाता था। ब्रह्मचारियों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध था। यूनानी लोगों ने भारत के नगरों का भी वर्णन किया है। पाटलिपुत्र का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। यहां राजकीय महल सुन्दर नक्काशीदार लकड़ी के बने थे। अन्य-अन्य धातुओं की वस्तुओं पर भी कारीगरी के काम उल्लिखित मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय कला ग्रीक-कला के प्रभाव से बची रही। यहां प्राचीनकाल से ही अपनी कला थी जिसका विकास धीरे-धीरे होता रहा।

यूनानी ऐतिहासिकों की तरह एशिया के पूर्वी भाग से भी यात्री भारत-भ्रमण के लिए आते रहे। ईसा की चौथी शताब्दी में चीनी फाहियान भी यहां आया। हिन्दुस्तान में गान्धार, तक्षशिला, पेशावर, पाटलिपुत्र, काशी, अंग होते ताम्रलिप्ति गया। वहां से

जहाज पर बैठकर लंका द्वीप होते अपने देश को वापस चला गया। उसके कथनानुसार अधिकतर जनता बौद्ध-धर्म को माननेवाली थी। मध्यदेश का जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यवर्द्धक था। जनता का प्रधान पेशा कृषि था। उनके चलने-फिरने में कोई बाधा न थी। राज-शासन आदर्श तौर पर चलता था। राज्य में दण्डविधान का नाम न था, शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था तथा अपराधी कम संख्या में मिलते थे। मनुष्य किसी जीवधारी की हत्या न करता था। शराब पीना, लहसुन-पियाज खाना बुरा समझा जाता था। चाण्डाल इससे अलग थे। खुले बाजार में शराब की दूकाने न थीं। उस समय बाजार में कौड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था। इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि फाहियान के समय में भारत में सिक्कों का प्रचार न था। उसके समय में पाटलिपुत्र में गुप्तनरेश शासन करते थे। उनका समय इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव वह समय सुख तथा सम्पत्ति का खजाना था। कोशल, कपिलवस्तु तथा वैशाली में स्वतंत्र शासक राज्य करते थे। लोग सुखी तथा वैभवपूर्ण थे। बौद्ध-धर्म का प्रचार था। विहार तथा मठ सर्वत्र वर्तमान थे जिनमें नाना प्रकार से उत्सव मनाए जाते थे। पाटलिपुत्र में धर्मार्थ औषधालय का सुन्दर वर्णन फाहियान ने किया है। प्रत्येक रोग के रोगी दूर-दूर देशों से यहां आया करते थे। रोग से मुक्त होकर सब लोग अपने-अपने देश को वापस जाते थे। जनता में स्वतंत्र रूप से कार्य करने का चलन था। जहां-जहां फाहियान गया, वहां किसी प्रकार के डाकू या चोर उसे न मिले। शान्ति के वातावरण में अपना समय बिताकर वह स्वदेश को लौटा।

उसके बाद उसी देश से छठीं सदी में ह्वेनसांग नाम का यात्री भारत आया। सबसे बड़ी बात जो फाहियान तथा ह्वेनसांग के विवरण में विभिन्नता पैदा करती है, वह भारत की धार्मिक अवस्था है। जिन स्थानों पर फाहियान ने बौद्ध-धर्म की प्रधानता पायी, संघाराम व

मठ भरे थे, वहां ह्वेनसांग ने ब्राह्मण-धर्म का उदय पाया। मठ आदि लुप्त हो गए थे। उनके स्थान पर मन्दिर बनने लगे थे। गान्धार देश में मन्दिर ही मन्दिर दिखलाई पड़ते थे। उसके समय में मालवा में विक्रमादित्य नाम का एक शक्तिशाली राजा था। वह ब्राह्मण-धर्म का माननेवाला था। उसी समय बसुबन्धु नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। ह्वेनसांग स्थल के मार्ग से आया, अतः उसने काबुल, सिन्ध तथा कश्मीर का सुन्दर वर्णन किया है। उसके वर्णन के मुताबिक मार्ग में स्थित मथुरा का शहर सैकड़ों मील लम्बा तथा कई मील चौड़ा था; जमीन उपजाऊ थी; लोगों के स्वभाव कोमल थे। वे स्वयं पढ़े-लिखे थे और विद्वानों का आदर करते थे। वे पुष्प तथा धूप से पूजा किया करते थे। गंगा-यमुना के दोआब की हजारों मील भूमि हरी-भरी थी। यात्री गंगा को देखकर स्तब्ध हो जाते थे। हरिद्वार गंगा का द्वार माना जाता था। यहां अनेक हिन्दू मन्दिर थे और लोग तीर्थ-यात्रा करने आया करते थे। कान्यकुब्ज नगर में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं वर्तमान थीं। नदी, तालाब तथा सुन्दर पुष्प-वाटिका नगर की शोभा बढ़ाते थे। जनता सुख तथा सन्तोष के साथ समय बिताती थी। जलवायु अनुकूल था। पुष्प तथा फल अनगिनत मात्रा में पैदा होते रहे। लोग चमकते हुए आभूषण पहनने के पक्ष में थे। बौद्ध तथा हिन्दू धर्म का समान रूप से सम्मान किया जाता था। उसने वर्णन किया है कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) का राजा (हर्षवर्द्धन) बौद्ध-धर्म की ओर झुका था। उसने पशु-हत्या की मनाही कर दी। स्तूप तथा औषधालय बनवाये। राजमार्ग तैयार कराया तथा प्रत्येक पांचवें वर्ष एक धार्मिक सभा बुलाया करता था। जो कुछ उसके पास रहता, सब कुछ दान में दे देता। प्रत्येक प्रकार के श्रमण तथा ब्राह्मण वहां एकत्रित होते थे। यद्यपि यह धार्मिक सभा थी, पर राजाज्ञा के कारण विशाल रूप धारण कर लेती। जो कोई अतिथि आता, सभी को भोजन दिया जाता था। विद्वान् दूर-दूर से राजा हर्षवर्द्धन की उस सभा में